आधुनिक हिन्दी नाट्यालोचन : नयी भूमिका

आधुनिक हिन्दी नाट्यालोचन : नयी भूमिका

लेखक
नरनारायण राय

तारतम्य

संपादकीय

एक समीक्षक होने के नाते हम यह समझते हैं कि सम्पादित पुस्तकों में प्रथम परीक्ष्य होती है सम्पादकीय दृष्टि, अर्थात् वह दर्शन—जिस आधार पर आलेखों का संकलन किया गया होता है। तब, संकलित आलेख इस दृष्टि से परीक्ष्य होते हैं कि प्रस्तुत की गयी सामग्री कहाँ तक सम्पादकीय दृष्टि को पोषण, विस्तार और अभिव्यक्ति देती है। इसके बाद यह भी देखा जाता है कि आलेख और आलेखकार की व्यक्तिगत सीमा और उपलब्धि क्या रही है।

संकलित आलेखों पर विषय प्रतिपादन, सामग्री की सीमा और उपलब्धि आदि की दृष्टि से सुधी पाठक और समीक्षक तो विचार करेंगे ही, वे सम्पादकीय दृष्टि का भी मूल्यांकन करेंगे। पुस्तकीय सामग्री तो यथाक्रम यहाँ प्रस्तुत है ही, विचार के लिए यहीं हम अपनी सम्पादकीय दृष्टि का पक्ष भी प्रस्तुत कर रहे हैं। सम्भव है इससे प्रस्तुत सामग्री के व्यक्तिगत और सामूहिक (संकलन-सन्दर्भ) महत्त्व के मूल्यांकन कुछ अन्य सन्दर्भों में भी किए जा सकें और पाठकीय समझ को एक रास्ता मिल सके।

पिछले दशक की बात है (१९६८-१९७८), हिन्दी नाट्य लेखन में कई-कई गम्भीर परिवर्तन हुए। यह परिवर्तन बहुआयामी था। इस सन्दर्भ में प्रचलित नाट्य-समीक्षा शैली की अनुपादेयता पर (अधिकतर नाटककारों और प्रयोक्ताओं की ओर से) अक्सर चर्चाएँ होती रहीं। नवीन जीवनानुभवों से सम्पृक्त, नये रचना-विधान और परिमार्जित-प्रयोगशील रंग-बोध को स्वायत्त कर लिखे और खेले गए नाटकों ने आलेख एवं प्रयोग के स्तर पर नाट्य-समीक्षा के नये मूल्य-मानों की माँग की। स्वभावत: कई प्रश्न एकसाथ उठ खड़े हुए।

नाट्य-समीक्षा की परम्परा क्या थी, कैसी थी? आज वह क्यों अनुपादेय है? नाट्य-समीक्षा का निजी वर्तमान क्या है, उसकी अक्षमताएँ क्या हैं? नाट्य-समीक्षा का वर्तमान कहाँ तक अतीत से जुड़ा है, उसकी समकालीन उपलब्धियाँ क्या रही हैं और परिवर्तन कहाँ-कहाँ, क्या-क्या सम्भव है? सम्भव परिवर्तन और जिन परिवर्तनों की माँग उठायी जा रही है—उनमें संवाद है या नहीं? भविष्य के लिए नाट्य-समीक्षा में प्रयुक्त होने वाली मूल्य-दृष्टि और आलोचना के प्रतिमान क्या हों? क्या उन्हीं प्रतिमानों और मूल्य-बोध के आधार पर समकालीन और पिछले दशक के नाटकों पर पुनर्विचार उपयुक्त है? क्या भविष्य के लिए निर्धारित नाट्य-समीक्षा के नये-मानदण्डों से

भविष्य में लिखा हुआ नाटक संवाद कर सकेगा ? या रचना मूल्यांकन से आगे-पीछे तो नहीं जा पड़ेगी ? इत्यादि···।

यह सारे प्रश्न अलग-अलग दिखते हुए भी वस्तुतः एक ही समस्या से उपजे प्रश्न हैं। अतीत और वर्तमान को समझे बिना हम भविष्य के लिए कोई मार्ग सुनिश्चित नहीं कर पाएंगे। इस सम्पादित पुस्तक में संकलित निबन्ध अपने प्रथम धरातल पर हिन्दी नाट्य-समीक्षा के अतीत, वर्तमान और भविष्य का क्रमशः संकेत देते हैं। 'संकेत' इसलिए कि, हर विचार खण्ड अपने में इतना गम्भीर और व्यापक है कि उसकी तुलना में हमारा यह प्रयास वस्तुतः 'संकेत' भर ही है। तथापि, सैद्धान्तिक नाट्य-चिन्तन की दिशा में यह आधुनिक और समकालीन सन्दर्भ की एक शुरुआत है और अगर हमारी यह 'कोशिश' एक शुरुआत भर भी मान ली गयी तो पुरस्कार परिश्रम से अधिक ही समझा जायगा। 'शुरुआत' होने के नाते ही हमने इस अभियोजन को 'आधुनिक हिन्दी नाट्य-समीक्षा की नयी भूमिका' के रूप में स्वीकार किया है, किसी चिन्ताधारा के विकास का श्रेय अपने से जोड़ने के लिए नहीं।

शैली, शिल्प और कथ्य के परिनिष्ठित प्रयोगों की दृष्टि से, हिन्दी के नये नाटकों का आविर्भाव काल १९६८ के बाद ही हुआ ठहराया जायेगा। १९६८ में अखिल-भारत स्तर पर मनाए गये रंगमंच शतवार्षिकी समारोह और आजादी के बाद का परिवर्तित परिवेश, नये नाटकों के आविर्भाव में प्रेरक तत्त्व स्वीकार किया जायेगा। सम्भवतः इन्हीं कारणों से, १९७० ई० के आस-पास से ही नाट्य-समीक्षा जगत में भी यह अनुभव किया जाने लगा था कि नाट्य-रचना की इस बदलती हुई भूमिका को अभिव्यक्ति देने के लिए प्रचलित नाट्य-समीक्षा की मूल्य-दृष्टि में पर्याप्त संस्कार की आवश्यकता है। लेकिन संस्कार के स्थल कौन से हों, परिवर्तन की दिशा कौन-सी हो, वह निश्चित नहीं थी। इसलिए मूल्य संक्रमण के इस दौर में नाट्य-समीक्षा जगत में एक अराजकता-सी उत्पन्न हुई जिसकी अन्तिम परिणति कृति समीक्षा और प्रस्तुति समीक्षा जैसी विभाजित मूल्य-दृष्टि में हुई। इस अन्तराल में पत्रकारिता जगत् में भी नाट्य-समीक्षा के नये मूल्य-मानों के निर्धारण का सवाल उभरकर सामने आता रहा। इस शोर-शराबे के बावजूद चिन्तन की सार्थकता के रूप में कोई सैद्धान्तिक प्रतिफल निष्कर्ष रूप में सामने नहीं आ पाया।

पिछले दशक में नाटकों की व्यावहारिक आलोचना प्रस्तुत करने के क्रम में कतिपय नाट्य-समीक्षा की नयी मूल्य-दृष्टि का निरूपण प्रस्तुत किया। १९७३-७४ से ऐसी आलोचना-कृतियों का आविर्भाव होने लगा, जिनके आधार पर कुछ मानक निष्कर्ष लिये जा सकें। नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर, डा० गोविन्द चातक (१९७३), लहरों के राजहंस विविध आयाम : जयदेव तनेजा (१९७४), मोहन राकेश की रंग सृष्टि, डा० जगदीश शर्मा (१९७५), मोहन राकेश और उनके नाटक, डा० गिरीश रस्तोगी (१९७६) कुछ ऐसे ही उदाहरण हैं। परिशिष्ट में प्रस्तुत सूची से अन्य कई आलोचना-पुस्तकों के नाम दिए जा सकते हैं, तुलनात्मक रूप से जिनका महत्त्व कम

नहीं है। प्रस्तुत उल्लेख केवल संकेत भर हैं। अस्तु, पिछले कुछ एक वर्षों में ऐसी मानक आलोचनाएँ सामने आयीं जिनसे नयी नाट्य-समीक्षा मूल्य-दृष्टि ग्रहण कर सके। इन व्यावहारिक नाट्य-समीक्षाओं का मंथन कर अथवा स्वतन्त्र रूप से ठोस सैद्धांतिक चिन्तन प्रस्तुत कर नाट्य-समीक्षा के नये मूल्य-मानों पर सैद्धांतिक निष्कर्ष-कर्षण का कार्य अभी भी शेष है।

नाट्य-समीक्षा के नये मूल्य-मानों की तलाश में, सैद्धान्तिक चिन्तन की दिशा में प्रथम मौलिक प्रयास मुझे डा० भूपेन्द्र कलसी के निबन्ध (कल्पना, जून '७४ में) दिखाई पड़ा है। शीर्षक है, 'नाट्यालोचन के नये प्रतिमान'। सम्भव है दृष्टि ओट के कारण कोई ऐसा पूर्व प्रकाशित प्रसंग छूट गया हो। ऐतिहासिकता का यह व्यामोह छोड़ भी दिया जाय, तब भी विषय का महत्त्व क्षीण नहीं हो जाता। हमारा एक उद्देश्य समाकालीन नाट्य-चिन्तन क्षेत्र में नाट्य-समीक्षा के नये मूल्य-मान निर्धारित करने की दिशा में किये गए प्रयासों को सन्दर्भ के रूप में प्रस्तुत करना भी रहा है और इसी दृष्टि से हमने कतिपय प्रकाशित लेख संकलित किये हैं। इस प्रकार के स्वतन्त्र, एकाकी और फुटकर प्रयासों का उल्लेख अगर छोड़ दिया जाय तो १९६८ से १९७६ तक नव-नाट्य-चिन्तन के नाम पर एक महाशून्य ही परिलक्षित होता है।

१९६७ ई० में नेमिचन्द्र जैन द्वारा प्रस्तुत 'रंग-दर्शन' नाट्य-चिन्तन का एक गम्भीर और चिन्तनपरक सैद्धान्तिक प्रतिपादन है। नाट्य-जगत की परवर्ती परम्परा ने इसे एक 'सन्दर्भ' के रूप में स्वीकार किया। इसके बाद १९७६ ई० में 'हिन्दी नाट्य समालोचन (डा० मान्धाता ओझा)', में सैद्धान्तिक चिन्तन प्रस्तुत किया गया। इसी वर्ष डा० गोविन्द चातक ने 'रंगमंच' शब्द को 'नाट्य' के पर्याय के रूप में स्वीकार करते हुए अपना सैद्धान्तिक चिन्तन 'रंगमंच : कला और दृष्टि' में प्रस्तुत किया और डा० कुसुम कुमार ने 'हिन्दी नाट्य-चिन्तन' शीर्षक से एक प्रबन्ध। इस बीच (१९६७-१९७६) १९७५ में डा० दुर्गा दीक्षित की ही एक पुस्तक ऐसी सामने आयी है जिसे मौलिक, सैद्धान्तिक नाट्य-चिन्तन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, कृति है : 'नाटक और नाट्य शैलियाँ'।

स्पष्ट है कि इस अवस्था में हम स्वतन्त्र, एकाकी और छिट-फुट चिन्तन को छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकते क्योंकि हमारा थोक चिन्तन (आलोचनात्मक-पुस्तकें) उतना समृद्ध नहीं रहा है। इसलिए हमारी कोशिश इन दोनों ही प्रकार के प्रयासों को साथ लेकर चलने की रही है।

१९७७ में आकर फुटकर और एकाकी सैद्धांतिक नाट्य-चिन्तन में एक नैरन्तर्य और शृंखला दिखाई पड़ी है। 'आजकल' (मासिक, दिल्ली, मार्च, '७७) में किरन चन्द्र शर्मा ने 'नाटक और आलोचना का सन्दर्भ' शीर्षक से नाट्य-समीक्षा हेतु एक मौलिक, नवीन मूल्य-बोध को स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा है। 'छायानट' (त्रै०, लखनऊ, जून '७७)में नयी नाट्य-समीक्षा से सम्बद्ध कुछ जरूरी सवाल 'नाट्य-समीक्षा :

कुछ जरूरी सवाल' शीर्षक के अन्तर्गत उठाया है और उन समस्याओं के समाधान की सम्भावनाओं पर गम्भीरता से विचार-विमर्श किया है। 'नाट्य-समीक्षा : नये क्षितिज की खोज' शीर्षक 'आलोचना' (त्रै० दिल्ली, अंक-४२, जुलाई-सितम्बर '७७) में प्रकाशित अपने निबन्ध में हमने 'नाट्य-समीक्षा' के लिए एक नवीन मूल्यांकन-शैली का प्रस्ताव विचारार्थ प्रस्तुत किया है। अभी तो यह परम्परा प्रारम्भ ही हुई है, भविष्य में यह विचार मंच और भी समृद्ध होगा, इस सम्भावना को प्राय: सभी स्वीकार करेंगे। अस्तु, इस सिलसिले में जो उपयोगी, सार्थक और मूल्यवान चिन्तन सामने आये हैं उन्हें एकत्र करने और एक समग्र मूल्यबोध के रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता थी। इस सम्पादित पुस्तक के अभियोजन में एक दृष्टि हमारी यह भी रही है।

अपनी समस्त सीमाओं के साथ अब यह अभियोजन आप सबके समक्ष है। यह क्या है, कैसा है ? इस विषय में कुछ धारणा मेरी निजी तो है ही कुछ विबुध पाठक और समीक्षकों की बहुमूल्य सम्मतियों से प्राप्त हो सकेंगे जिसकी मैं उन्मुक्त भाव से सदैव प्रतीक्षा करूँगा। जो मैंने सोच रखा है, उसका सम्बन्ध 'हिन्दी नाटक और नाट्यसमीक्षा' शीर्षक से सम्पादित मेरे अब तक के पिछले चार खण्डों (१९७४-१९७७) से है। इन वार्षिकी खण्डों का संयोजन करते हुए मुझे सदैव ऐसा अनुभव होता रहा कि यह अधूरा है और केवल व्यावहारिक नाट्य-समीक्षा का रूप ही इनसे बन पाता है। सैद्धान्तिक चिन्तक की जरूरत इस प्रस्ताव के द्वारा पूरी करने की यह एक शुरुआत है। चेष्टा में हूँ कि इसी क्रम में आगे भी कुछ और प्रस्तुत करूँ। पर यह सब तो तब—जब इस प्रस्ताव को कुछ भी समर्थन मिल पाए।

अन्ततः मैं हृदय से डा० भूपेन्द्र कलसी, डा० मान्धाता ओझा, श्री किरनचन्द्र शर्मा, श्री विष्णुकान्त शास्त्री, डा० गोविन्द चातक का आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने मेरी योजना में सहयोग के निमित्त अपनी पूर्व प्रकाशित सामग्री का उपयोग करने की अनुमति प्रदान की। मैं हृदय से वैजनाथ राय, कुमारी उर्मिला राय, डा० गिरीश रस्तोगी, डा० गिरिजा सिंह, श्रीपति कुमार गुप्त, श्री मदनमोहन माथुर, डा० जगदीश शर्मा, के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने मेरी योजना को समझकर तदनुरूप सामग्री इस पुस्तक के लिए तैयार करने की कृपा की है। मैं अपने उन सहयोगियों को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने रुचि दिखाई, विषय लिए, और जो शीघ्र निबन्ध भेजने का आश्वासन देकर आज तक चुप रहे हैं।

नरनारायण राय

नाट्य समालोचन : प्रकृति और प्रतिमान

प्राचीन निकष

नाटक दृश्य-काव्य होता है। यह एक साथ ही साहित्य भी है और क्रीडनीयक भी। अतः नाट्यालोचन का सर्वथा अपना मौलिक प्रतिमान होता है, इसके इस विशिष्ट स्वरूप के संकेत प्राचीन काल से ही मिलते हैं। पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' में यह सूत्र है कि 'पाराशर्य शिलालिभ्याम् भिक्षुनट सूत्रयोः कर्मन्द कृशाश्वादिनीः'।[1] नाट्य-चिन्तन की भारतीय परम्परा की खोज करते हुए आलोचकों का ध्यान उपर्युक्त सूत्र की ओर गया है। सूत्र पद्धति में लिखे गए इन सूत्रों में नाट्य-कला का ही विवेचन विहित रहा होगा, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। सूत्र से यह तथ्य तो प्रकट होता ही है कि कृशाश्व और शिलालिन द्वारा नटसूत्रों की रचना की गयी होगी। किन्तु वे सूत्र क्या थे ? इसका पता नहीं लगता है। 'अष्टाध्यायी' के उद्धरण से इस बात का संकेत तो मिलता है कि नटसूत्रों का सम्बन्ध नाट्य-चिन्तन से रहा होगा, परन्तु इससे कृशाश्व और शिलालिन द्वारा प्रतिपादित नाट्य-सिद्धान्त अथवा नाट्य प्रयोग के विषय में किसी निश्चय पर पहुँचना कठिन है। तथापि वेबर[2] का अनुमान है कि इन नटसूत्रों की रचना नर्तकों एवं नटों को शिक्षा देने के लिए की गयी होगी। लेवी[3] का अन्दाज है कि ये अभिनेताओं के लिए लिखे गए ग्रन्थ रहे होंगे। नटसूत्रों के उल्लेख से यह बात जाहिर है कि पाणिनि के समय में नाट्याभिनय की परम्परा थी। नाट्य-प्रदर्शन के लिए स्थायी रंगशालाएँ हुआ करती थीं, जहाँ नाट्याचार्यों की देखरेख में नाटक खेले जाते थे।

भरत का 'नाट्य-शास्त्र' ही वह पहला उपलब्ध ग्रन्थ है जिसमें नाट्यकला का एक सिलसिलेवार ब्यौरा मिलता है। 'नाट्य-शास्त्र' में नाट्य सृजन, नाट्य प्रयोग एवं रंगमंच के कतिपय आधारभूत सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। इनके अध्ययन से नाट्य-समीक्षा के प्रतिमान सम्बन्धी भरत मुनि के दृष्टिकोण का पता लगता है। भरत ने दृश्य और श्रव्य दोनों रूपों के समुचित विनियोग द्वारा प्रेक्षक को रस दशा में ले जाना ही नाट्य कला का मूल अभिप्रेत माना है। नाट्यकला को नृत्यादि विभिन्न कलाओं

---

१. अष्टाध्यायी, पाणिनि, अ० ४, पाद-३, सूत्र ११०-१११

२. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, वेबर

३. ला थियेटर, सिला लेवी

के संश्लिष्ट प्रयोग का प्रतिफल मानते हुए भी भरत ने इसमें पाठ्यांश को विशेष महत्त्व दिया है। पाठ्यांश के अर्थ या रस के प्रभाव को ही सघन बनाने के लिए नाट्य-कला में नृत्य, नृत्त, गीत, नाट्यकला, वस्तुकला, चित्रकला एवं नाट्यधर्मी और लोकधर्मी अभिनयों का यथोचित आश्रय ग्रहण किया जाता है। इससे नाट्यकला में दृश्यत्व के गुण का समावेश होता है और प्रेक्षक के लिए पाठ्यांश में अन्तर्हित अर्थ या रस अधिक भास्वर रूप ग्रहण कर लेता है।

भरत ने 'नाट्यशास्त्र' के 'काव्वध्याय' में स्वर, अलंकार आदि विषयों की विस्तृत चर्चा की है। इन विषयों से युक्त अंश को नाट्य का पाठ्य रूप कहा है। यहाँ यह भी उल्लेख है कि नाट्य में वाणी का रूप अभिनयपरक होता है। वाणीगत अर्थ को प्रत्यक्ष करने के हेतु नाट्य में आंगिक, आहार्य, सात्विक एवं वाचिक अभिनयों, नाट्यधर्मिताओं, वृत्तियों, चित्रादि कलाओं का समाश्रय विहित माना है। इस प्रकार नाट्यकला में श्रव्य और दृश्य रूप एक संश्लिष्ट इकाई के रूप में अवतरित होने पर ही अपनी कलात्मक सार्थकता व्यक्त करते हैं, रंगशाला में प्रभाव या रसोद्रेक की प्रभविष्णुता प्रदान करने में समर्थ होते हैं। यह प्रकट है कि भरत नाट्यरचना के विभिन्न अंगों में वाचिक अभिनय को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं। अभिनय के इस भेद-विशेष के साथ नाट्य के पाठ्य रूप का सीधा सम्बन्ध होता है। यह जाहिर है कि स्वरों के उदात्त अनुदात्त एवं स्वरित रूपों के विनियोग से अर्थ या रस का आवेदन तीव्रता ग्रहण कर लेता है। किन्तु भरत यह भी मानते हैं कि शेष प्रकार के अभिनयों, गीत, नृत्य, वाद्य तथा चित्रादि प्रयोगों के सम्मिलित रूप को ग्रहण किए बिना नाट्य की अवधारणा पूरी नहीं होती। नाट्यगत पाठ्यांश रसोद्बोधन का सबल माध्यम तो है परन्तु नाट्यकला का सर्वातम भाव नहीं। प्रयोग पक्ष की अन्य बातें भी रस निष्पत्ति में योग देती हैं, संवेदनों को तीव्र करती हैं। वस्तुतः प्रयोग पक्ष की बातों में जिसमें प्रेक्षक समूह का मनोविज्ञान भी संलग्न है, नाट्यकला का जादुई प्रभाव का भाव भी समाहित है। परन्तु बाद में जब रस का प्रयोग काव्य की व्याख्या या समीक्षा के लिए भी ग्रहण कर लिया गया तो उसकी अवधारणा में से रंगशाला के जादुई प्रभाव का तत्त्व छिन सा गया। रसवृत्त में भरत की रंगशाला के जादुई प्रभाव को व्यंजित करना भी अभीष्ट था, जिसे केवल पाठ्यांश के विचार मात्र से ही समझा नहीं जा सकता। नाट्य-समीक्षा के संदर्भ में भी आज जब हम रस को समीक्षात्मक मुहावरे के रूप में प्रयोग करते हैं, तो उसके द्वारा रंगशाला के सारे आयामों का बोध नहीं करा पाते। परन्तु नाट्य के प्रसंग में अवतरित भरत की रस-दृष्टि में रंगशाला के पाठ्येतर आयामों का भी समावेश है, यह परिलक्षित होता है। डा० रघुवंश का यह निष्कर्ष सारगर्भित है कि "नाट्यशास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें (दृश्य-श्रव्य से युक्त) संपूर्ण नाट्य की कल्पना एक इकाई के रूप में की गयी है। इसमें केवल ऐसा ही नहीं है कि नाट्य के अन्तर्गत आने वाली सभी कलाओं का तथा उसके सभी अंगों का केवल अलग-अलग विवेचन मात्र किया गया हो'। 'नाट्यशास्त्र

में जब नाटकीय रचना को दृष्टि में रखकर उसके कथा, नायक, रस आदि अंगों का विवेचन किया गया है, उस समय शास्त्रकार नाट्य के न अभिनय पक्ष को और न दर्शक को विस्मृत कर पाता है।"[1]

भरत मुनि इस तथ्य को भलीभाँति जानते थे कि नाट्य-रचना प्रेक्षागृह में बैठे हुए प्रेक्षकों के प्रति प्रेषित होती है। इसीलिए वे शास्त्रीय विवेचन करते हुए देशकाल की लोकरुचि की दृष्टि नहीं छोड़ते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि इस कला के प्रयोग को लेकर कोई विवाद उठने पर लोकरुचि और व्यवहार को ही प्रमाण मानना चाहिए, शास्त्र को नहीं। इससे दो बातें प्रकट होती हैं :

१. देश काल की लोकरुचि के बदलाव के साथ नाट्य-प्रदर्शन की रीतियाँ रंग-विधान के तौर-तरीके बदले जा सकते हैं। क्योंकि नाटक के प्रस्तुतिकरण में देश-काल का उपयुक्त संदर्भ ग्रहण किए बिना सजीवता या संजीदगी नहीं आ सकती है।

२. रंगशाला में बैठकर व्यक्ति के मैं रूप का तिरोभाव हो जाता है, और उसके 'हम' रूप का उदय होता है।

जब हम समूह का अंग बनकर किसी चीज में भाग लेते हैं तो हमारे अनुभव का रूप, उस चीज को करने या देखने के रूप से भिन्न प्रभाव वाला हो जाता है। सहभोज में, सामूहिक राजनीतिक प्रदर्शनों के समय, समूह का अंग बनकर कार्य करते हुए भी व्यक्ति को 'मैं' और 'हम' के आयाम भेद का पता लगता है। इस प्रकार समूह का अंग बनकर जब नाट्य-प्रदर्शन देखा जाता है तो उसमें भी अकेले किताब पढ़ने से कुछ अलग ही मजा आता है। भरत मुनि इस लोक मनोविज्ञान को गहराई से पहचानते प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए इनके नाट्य-विवेचन की दो-एक बातों की ओर संकेत किया जा सकता है। प्रेक्षागृह के निर्माण में जहाँ भरत रंगशीर्ष, रंग-पीठ, नैपथ्य, भत्तवारणी, खम्भों के स्थापन तथा प्रेक्षकों आदि के बैठने का विवेचन करते हैं तो वहाँ लोकाभिरुचि एवं रंग व्यापार के प्रति इनकी (भरत) व्यावहारिक दृष्टि साफ झलकती है। नान्दी, सूत्रधार एवं विस्कम्भक आदि में नाट्य-वस्तु के मर्म की व्याख्या का जो प्रवाह रहता है वह प्रेक्षागृह में बैठे प्रेक्षक की मानसिक अवस्था को ध्यान में रखने के कारण ही है। नाट्यार्थ के गूढ़ रह जाने पर प्रेक्षक को अपेक्षित आनन्द भी नहीं आता और उपदेश का तात्पर्य भी सिद्ध नहीं होता। अतः सर्वसामान्य प्रेक्षक को नाट्यार्थ का बोध कराने के लिए सूत्रधार के द्वारा या किसी पात्र विशेष के मुँह से गूढ़ार्थ की व्याख्या भी करा दी जाती है। इससे नाट्य-वस्तु के प्रति प्रेक्षक की तन्मयता बढ़ती है।

भरत ने नाट्यवेद की कल्पना 'क्रीडनीयक' के रूप में की थी। 'क्रीडनीयक' चित्त को आकृष्ट करने वाला मनोरंजन का साधन है। इस साधन का प्रयोग वेद विमुख

---

१. नाट्यकला, डा० रघुवंश, पृ० ५६

व्यक्तियों, एवं शूद्रों को कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान कराते हुए सत्पथ में संलग्न कराने के अभिप्राय से किया जाना बतलाया गया है। अतः भरत की नाट्य-कल्पना में नैतिक-आध्यात्मिक परिष्कार का प्रयोजन विद्यमान है। यह अनुदृष्टि ही सामान्यतः भारतीय नाट्य-चिन्तन को आदर्शवादी रूप प्रदान करती है। इस प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "भारतीय नाटकों में यह प्रथा रूढ़ हो गयी है कि धर्मात्मा को पापात्मा से कभी पराजित होते न दिखाया जाय और सद्विचारशील व्यक्ति कठिनाइयों से जूझता हुआ हार न जाने पावे।"[1] कथानक-रूपायान में इस प्रकार की दृष्टि के विनियोग को प्रकट करने के लिए पश्चिमी साहित्य चिन्तन में जिस समीक्षात्मक मुहावरे का प्रयोग किया जाता है उसे काव्यपरक न्याय (पोएटिक जस्टिस) के नाम से अभिहित करते हैं। काव्यपरक न्याय की प्रवृत्ति भारतीय प्राचीन नाट्य-चिन्तन की मूल धुरी है। जीवन को चरितार्थ बनाने में समर्थ उदात्त मूल्यों की स्थापना इसकी अनिवार्य प्रवृत्ति है। भारतीय नाट्य-समीक्षा में हम देखते हैं कि इस दृष्टि से नाट्य-मूल्य के विवेचन को प्रमुख स्थान मिला है। इसी दृष्टि से चैतन्य की महिमा की प्रतिष्ठा के अन्वेषण को आज भी डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी नाट्य-समीक्षा का मूलभूत आधार मानते हैं। इनका कथन है कि : "अपने निजी माध्यम का पूर्ण और सजीव प्रयोग करते हुए नाट्य रचना में भी नाटककार की दृष्टि चैतन्य की महिमा की प्रतिष्ठा की ओर होनी चाहिए। सारे शिल्प, सारी नाट्य रूढ़ियाँ, सारी साज-सज्जा इसी दृष्टि से देखी जानी चाहिए। वस्तुतः नाटक वही उत्तम कोटि का होगा जो हमारी जड़ चिन्तन प्रणाली, जड़ आचरण और जड़ अनुभूति का मोह नष्ट कर सके।"[2] यह प्रेरणा सामान्य रूप से भारतीय नाट्य-चिन्तन को आदर्शवादी बना देती है। नायक खलनायक के बीच संघर्ष दिखलाते हुए काव्यपरक न्याय की रक्षा करना भारतीय नाट्य-विधान का अभीष्ट प्रतीत होता है। इष्टत्व बोध के इसी रूप की ओर इंगित करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"भारतीय नाटकों में यह प्रथा रूढ़ हो गयी है कि धर्मात्मा को पापात्मा से कभी पराजित होते न दिखाया जाय और सद्विचारशील व्यक्ति कठिनाइयों से जूझता हुआ हार न जाने पावे।"[3]

भारतीय नाट्य-चिन्तन में रस एवं काव्यपरक न्याय के प्रति दृष्टि निबद्धता के कारण यहाँ त्रासदी अथवा यथार्थवादी शैली के नाटक नहीं लिखे गए। रस को आधार बनाने के कारण भारतीय नाटकों में साधारणीकृत मूल्यों और व्यापारों को ही अपनाया गया, व्यक्ति वैचित्र्यप्रधान क्रियाओं या आचरणों को स्थान नहीं मिला।

मध्ययुग में नाटक और रंगमंच का विच्छेद

कालान्तर में प्रेक्षागृहों और नाट्याचार्यों की परम्परा क्रमशः ह्रासोन्मुखी होते

---

१. साहित्य का मर्म, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३
२. नटरंग, सं० नेमिचन्द्र जैन, वर्ष-१, अंक-३, पृ० ६
३. साहित्य का मर्म, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३१

गई। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में नटों के प्रति तिरस्कार भावना[1] के कारण समाज में रंगकर्मियों की प्रतिष्ठा घटी। मुसलमानी आक्रमणों से भी प्रेक्षागृहों की हानि हुई और रंगमंचीय क्रियाकलापों को धक्का लगा।[2] डा० श्री कृष्णलाल ने मध्य युग में रंगमंचीय क्रियाकलापों के ह्रास का कारण मुसलमानी आक्रमण को न मानकर वैरागी सन्तों को माना है जो लौकिक जीवन से लोगों को विमुख कर रहे थे।[3] जयशंकर प्रसाद का यह विचार है कि "मध्यकालीन भारत में जिस आतंक और अस्थिरता का साम्राज्य था उसने यहाँ की प्राचीन रंगशालाओं को तोड़-फोड़ दिया।"[4] इसका परिणाम यह हुआ कि मध्ययुग में नाट्य-सृजन और नाट्यालोचन दोनों से ही रंगमंच का व्यावहारिक संदर्भ कट गया। नाट्य की अवधारणा संकुचित और सीमित रूप वाली बन गई। नाट्य अब रूपक के रूप में जाना जाने लगा। नाट्यविषयक विचारों को काव्यशास्त्र में अन्तर्मुक्त किया गया। धनंजय कृत 'दशरूपक' (१०वीं शती), रामचन्द्र गुणचन्द्र द्वारा लिखित 'नाट्य-दर्पण' (१२वीं शती), शारदा तनय का 'भाव प्रकाश' (१२वीं शती) रुय्यक कृत 'नाटक मीमांसा' सदृश नाट्य सिद्धान्त प्रतिपादक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गए, किन्तु सबमें अधिकतर वस्तु नेता और रसपरक चिन्तन सामान्यतया काव्य के निकषों पर ही सम्पन्न हुआ है। 'भाव प्रकाश' में अभिनय पक्ष का कुछ सुव्यवस्थित विवेचन भी दिखाई पड़ जाता है। परन्तु सब मिलाकर नाट्यालोचन काव्यालोचन के प्रतिमानों से बहुत भिन्न नहीं रह गया था। 'अभिनव भारती' में नाट्यशास्त्र की विवृति प्रस्तुत करते हुए अभिनव गुप्त ने रस के प्रकरण पर ही सर्वाधिक विस्तार से विचार किया है। इसे ही नाट्य का मूल तत्त्व माना है। दूसरे नाट्यांगों का इन्होंने अधिक विवेचन नहीं किया है। उन्हें रस का उपकारक ही माना है।

अभिनव गुप्त एक असाधारण प्रतिभासम्पन्न भारतीय मनीषी हैं। साहित्य और दर्शन के सम्बन्ध में उनके विचारों ने भारतीय चिन्ताधारा को बड़े गहरे रूप में प्रभावित किया है। वस्तुतः उन्हीं के चिन्तनों में भारतीय चिन्ताधारा का केन्द्रीय रूप प्रकट हुआ है। अतः नाट्य के सम्बन्ध में व्यक्त उनके विचार नाट्य-समीक्षा की भारतीय दृष्टि को बहुत दूर तक प्रभावित करने वाली सिद्ध हुए हैं। नाट्य के सम्बन्ध में अभिनव गुप्त का मत है कि : 'प्रत्यक्षकल्पानु व्यवसायविषयो, लोक प्रसिद्धः सत्यासत्यादि विलक्षणत्वात् यच्छब्दवाक्यो लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्य मानश्चर्व्य माणोऽर्थो नाट्यम्'। (१) नेत्रों से दृश्यमान दृश्य के कल्प समान अनुव्यवसाय-भावना का विषय, (२) लोकप्रसिद्ध—विश्व में विख्यात, (३) न झूठा न सच्चा, अतएव दोनों से विलक्षण 'यत्' शब्द के द्वारा अभिधेय सारे आदमी (दर्शक)

---

१. मनु०, ६३, २३७, १४४, १७०-६, ४७५, या ज्ञ० ४८-४९,३५०-१
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० वार्ष्णेय, पृ० २२३-२४
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, डा० श्री कृष्णलाल, पृ० १९४-५
४. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद, पृ० ७०

जिसको सर्वसाधारण रूपेण अपने में घटित कर लें। चर्व्यमाण—आस्वादन किया हुआ। अर्थ—रंगमंच पर दिखाया गया अभिनय नाट्य कहलाता है।

भावार्थ : रंगमंच पर नटगण अर्थात् अभिनेतृवृन्द अभिनय किया करता है। उसको सामाजिक प्रेक्षक ऐसा समझता है मानो प्राचीन काल की वह घटना अभी आँखों के सामने घटित हो रही हो। अभिनीत वस्तु के रस का साधारणीकरण प्रक्रिया द्वारा प्रेक्षक आस्वादन करता है। विश्व में विख्यात है कि नटों के कार्य को नाटक (नाट्य) कहते हैं। स्पष्ट है कि अभिनव गुप्त नाट्य व्यापार का साध्य रसास्वाद को मानते हैं। उनकी दृष्टि में नाटक वह कर्तव्य है जो प्रत्यक्ष कल्पना एवं अध्यवसाय का विषय बन सत्य एवं असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनन्दोपलब्धि कराता है। डा० रामअवध द्विवेदी ने अभिनव गुप्त के प्रस्तुत नाट्य विचार को पश्चिमी नाट्य चिन्तन में लक्षित 'नाट्य भ्रान्ति' (ड्रामेटिक इल्यूजन) का समकक्षी सिद्धान्त बतलाया है।[१] 'नाट्य भ्रान्ति' भी सामाजिक की एवं विशेष मनोदशा का ही नाम है जो नाटक देखते वक्त प्रत्यक्ष में अप्रत्यक्ष, अनुकरण में अनुकार्य के ज्ञान कराने की एक प्रक्रिया है। भारतीय विचारक इसी को सामान्य का विशेष होना या साधारणीकृत होना कहते हैं। ज्ञान की यह प्रक्रिया स्वभावतया आनन्ददायिनी होती है। पश्चिमी नाट्य समीक्षा को नाट्य भ्रान्ति के सिद्धान्त ने जितने व्यापक रूप में प्रभावित किया है, उतने ही व्यापक रूप में भारतीय नाट्य समीक्षा को अभिनव गुप्त के रसास्वाद के सिद्धान्त ने प्रभावित किया है।

नाट्यसमीक्षा के पाश्चात्य प्रतिमान

पश्चिमी नाट्य-दर्शन में भ्रान्ति और अन्विति का सिद्धान्त प्राचीनकाल से ही माना जा रहा है कि नाट्य कला तथा अन्य कलाओं में भी एक ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न करने की शक्ति होती है, जो अनुरंजक होती है। होमर के महाकाव्य में एचिलीज की ढाल पर अंकित जोते हुए खेत की कलात्मकता की प्रशंसा इसलिए की गयी है क्योंकि उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वह जोती हुई पृथ्वी है, कोई समधरातल ढाल नहीं है। इसी प्रकार प्लेटो ने एक ऐसे चित्र का उल्लेख किया है जो अंगूर के एक गुच्छे का चित्र है किन्तु वह चित्र वास्तविक अंगूर के गुच्छे से इतना मिलता जुलता है कि पक्षी उसे अंगूर मानकर उसकी ओर झपटते हैं। नाट्य अभिनय भी जीवन व्यापार की वास्तविकता की एक ऐसी ही भ्रान्ति पैदा करने के कारण ही दर्शक को आकृष्ट करता। जिस नाट्याभिनय में वास्तविकता की भ्रान्ति, अनुकृति और अनुकार्य का अभेदत्व जितना परिपूर्ण होता है वह प्रस्तुतीकरण दर्शक के लिए उतना ही आनन्दात्मक सिद्ध होता है।

कलागत अनुकरण का ध्येय अयथार्थ में यथार्थ की प्रतीति द्वारा दर्शक को

---

१. साहित्य सिद्धान्त, पृ० ६३, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना द्वारा प्रकाशित

आनन्दविभोर करना माना गया है। यहाँ यह विचार कर लेना समीचीन होगा कि नाटक की रचना प्रक्रिया में इस भ्रान्ति तत्त्व का अवतरण कैसे सम्भव होता है ? चित्र दर्शन या नाट्य अभिनय में भ्रान्तिमय प्रतीति तभी सम्भव होती है जब दर्शक की मानसिक सतर्कता या तर्क बुद्धि अपना कार्य छोड़ देती है और प्रेक्षक में अभिनयात्मक अनुव्यवसाय के प्रति अविश्वास भाव प्रकट नहीं होता।

नाट्य भ्रान्ति को ही प्राचीनों ने नाट्यकला या रंगमंचीय प्रभाव का मर्म माना है। इस विषय में अंग्रेज चिन्तक मॉर्गन का विचार प्रमुख रूप से मान्य है। मॉर्गन का कथन है कि 'प्रेक्षक मनोरंजन की खोज में प्रेक्षागृह में प्रवेश करता है। उस समय यथार्थ और अयथार्थ भेद करने वाली उसकी मानसिक शक्ति सक्रिय रहती है। परन्तु क्रमशः रंगशाला के विभिन्न वातावरण का उसके मन पर प्रभाव पड़ता है। संगीत लहरी किसी नवीन दिशा में उसकी भावनाओं को प्रवाहित करने लगती है। रंगमंच की साजसज्जा और आलोक का भी उसके मन पर असर पड़ता है। तत्पश्चात् अभिनेतृवृन्द अंग परिचालन, नृत्य तथा संवाद द्वारा अपना-अपना कौशल दिखलाते हैं। इन सभी का सम्मिलित प्रभाव यह होता है कि तर्क तिरोहित होने लगता है और मन में नाट्य भ्रान्ति का आविर्भाव होता है। इस दशा में अनुकृति और अनुकार्य के बीच का अन्तर मिट जाता है। यही नाट्य भ्रान्ति का चरम उत्कर्ष है,[1] नाटक का काव्यगत गुण भी भावोत्थान द्वारा नाट्य भ्रान्ति की मानसिक स्थिति को प्राप्त कराने में योग देता है। इस प्रकार नाट्य अभिनय में आन्तरिक और बाह्य कारणों के सम्मिलित प्रभाव से अविश्वास का स्थगन होता है और नाट्य भ्रान्ति उत्पन्न होती है।

फ्रांसीसी नाट्य मनीषी सार्सी ने तो नाट्य भ्रान्ति और अन्विति को नाट्यकला का मूल मर्म माना है। दर्शक के समक्ष अनुकृत जीवन व्यापार को रंगमंच पर यथार्थवत प्रत्यक्ष करके दिखला देना अभिनय कौशल की उत्कृष्टता का प्रतिमान है। अतः सार्सी का मत है कि जो तत्त्व नाट्य भ्रान्ति के प्रतिकूल ज्ञात हों उन्हें नाट्य सृजन में स्थान नहीं देना चाहिए। प्रतिकूल तत्त्वों से दर्शक की आनन्दविभोरता में व्यवधान आ जाता है। नाट्य भ्रान्ति का दर्शक से सीधा सम्बन्ध होता है। अतः वह नाट्य-प्रदर्शन सफल नहीं कहा जा सकता जो दर्शक की नाट्य भ्रान्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने में समर्थ नहीं होता। सामान्य दर्शक तो नाट्य प्रदर्शन का मूल्य इसी बात से आँकता है कि उसे भ्रान्तिजन्य आनन्द कितना मिला। गम्भीर नाट्य-समीक्षक नाट्य-भ्रान्ति की अवधारणा सौन्दर्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द के रूप में करता है और भ्रान्ति के संघात से प्रतिफलित अनुभूतिपरक प्रभाव के संधान में संलग्न होता है। नाट्य-भ्रान्ति के सिद्धान्त के अनुसार नाट्य-अभिनय को देखने से निष्पन्न होने वाली सौन्दर्यानुभूति के प्रभावात्मक स्वरूप की मीमांसा नाट्य-आलोचना का साध्य है। नाट्य-अभिनय से उद्भूत नाट्य-भ्रान्ति के प्रभाव से दर्शक अपने और पराए के भेद को भूलकर

---

१. साहित्य सिद्धान्त, डा० रामअवध द्विवेदी, पृ० ७३

आत्मविस्तार को प्राप्त होता है जिससे उसे एक विशिष्ट प्रकार की सौन्दर्यानुभूति होती है। नाट्य-सृजन में तत्पर नाटककार भ्रान्तिमूलक जगत की सृष्टि इसी हेतु करता है कि मानवीय संवेगों को एक विशेष पैटर्न (क्रमन्यास) में रखकर दर्शक के भावलोक में विरेचनात्मक प्रभाव की सृष्टि की जाय।[1] अरस्तू ने भी यही माना है कि त्रासदी आदि कलाओं में विरेचन की सिद्धि ही अनुकरण का प्रयोजन है। अनुकरण के स्वरूप, अनुकरण की रीति, और अनुकरण के माध्यम के आधार पर कलाओं का विभेद करते हुए अरस्तू ने कथानक, पात्र, भाषा, विचार, दृश्यत्व और संगीत आदि त्रासदी के छः विशेष तत्त्वों की चर्चा की है और मूलतः वस्तुविन्यास को महत्त्व दिया है। अतः क्लासिकी दर्रे की नाट्य-समीक्षा में कथानक के सामान्यीकृत रूप और अन्वितियों के निर्वाह पर बहुत बल दिया गया है, क्योंकि इनके कारण नाट्य-भ्रान्ति का प्रभाव निबिड़ हो जाता है। इससे नाट्य-अभिनय के साथ दर्शक का तादात्म्य सहज सुलभ हो जाता है।[2] अरस्तू ने दृश्यत्व के रूप में रंगसज्जा के तत्त्व को संकेतित तो किया है परन्तु उसे बहुत महत्त्व नहीं दिया। पश्चिम में भी रंगमंचीय सन्दर्भ को केन्द्र बनाकर होने वाली नाट्य-आलोचना का क्रम आधुनिक युग में ही शुरू हुआ है।

अरस्तू ने दुःखान्त या सुखान्त दो ही प्रकार के नाटकों में एक कार्य के अनुकरण को कलात्मक अनिवार्यता माना है। इसके साथ ही उन्होंने देश और कालगत ऐक्य के निर्वाह पर भी बल दिया है। प्राचीन काल से ही यूरोप में यह मत सर्वमान्य रहा है कि नाटक जीवन का अनुकरण अथवा कलात्मक निरूपण है। अन्वितियाँ वस्तु-शिल्प की प्राण हैं। इसकी अवतारणा से नाट्य-प्रभाव संकलित और तीव्र हो जाता है। नाटकों में, इस प्रकार, जीवन का अनुकरण और तीक्ष्ण हो जाता है। नाटकों में इस प्रकार, जीवन का अनुकरण अधिक सार्थक और सफल रूप धारण करने में समर्थ होता है। इससे नाट्य-चित्रण की विश्वासोत्पादकता बढ़ जाती है। क्लासिकी (शास्त्रवादी) नाट्य-दर्शन के अनुसार अन्वितियाँ नाट्य-भ्रान्ति के सृजन में एक सहकारी साधन का काम करती है। शास्त्रवादी ढर्रे के रूपवादी नाट्य-समीक्षकों की दृष्टि इस प्रकार, नाट्य-रचना में नाट्य-भ्रान्ति पैदा करने में समर्थ वस्तुशिल्प के सुसंगठित और कलात्मक सौष्ठव की ओर अधिक टिकी है। नाट्य-आलोचना में अन्वितियों के मूलभूत महत्त्व की स्थापना पहले इटली के व्याख्याताओं और बाद में

---

1. 'Illusian has a cathartic effect' 'The act of creation' में Arthur Koester का कथन, पृ० ३०३।
2. "The concept of catharsis assures a two fold meaning. Firstly it signifieds that concentration on the illusionary events on the stage rids the mind of drass of its self centred thrivial pre-occupation. In the second place it arouses its dormant self transeendant potentials and provides them with an outlet untill they peacefully able away". वही, P. 307

फ्रांसीसी नाट्य-विचारकों द्वारा की गई। इन्हीं विचारकों के द्वारा अन्विति के सिद्धान्त को एक रूढ़िबद्ध रूप दे दिया गया।

नाट्य-भ्रान्ति तथा अन्वितिविषयक यह पाश्चात्य सिद्धान्त भारतीय नाट्य-रस विचारक शंकुक के अनुमितिवाद के समकक्ष प्रतीत होता है। शंकुक भी यह मानते हैं कि कुशल अभिनय द्वारा विभाव इत्यादि के माध्यम से अभिनेता में ही नायक के स्थायी भाव का आभास हो सके।[1] वास्तव में वस्तु सौन्दर्य के कारण दर्शक इस प्रकार अनुमान किए गए भाव का अनुभव करता है जिससे उस भाव की विलक्षणता और भी बढ़ जाती है।[2] इसके फलस्वरूप दर्शक के मन में आस्वाद स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसे रस कहते हैं। विभाव का रस से वही सम्बन्ध है जो अनुमापक अथवा गमक से अनुमाप्य अथवा गम्य से है। इस प्रकार के ज्ञान को चित्र तुरंग न्याय पर आश्रित ज्ञान कहा गया है। इस प्रकार शंकुक की रसविषयक मीमांसा नाट्य-भ्रान्ति के आनन्द की ही ज्ञापक है।

शंकुक के मतानुसार रस की उत्पत्ति कार्य-रूप में नहीं होती है अपितु दर्शक द्वारा उसका अनुभव अथवा अनुमान किया जाता है। शंकुक का मत है कि कुशल नट अथवा अभिनेता नायक का इतना अच्छा अनुकरण करता है कि दर्शक उसे नायक से अभिन्न समझता है और इस आभास के फलस्वरूप वह अपने मन में नायक के वास्तविक मनोभाव का अनुमान कर लेता है, क्योंकि वह अभिनय के विशिष्ट सौन्दर्य से प्रभावित होता है। दर्शक उस अनुभव का ही रस के रूप में आस्वाद करता है।

शंकुक के अनुमितिवाद को हमारे परवर्ती रसवादी विचारकों ने अमान्य सिद्ध किया। इस सिद्धान्त के निराकरण में यह तर्क दिया है कि विभाव, स्थायी भाव की सिद्धि का साधन नहीं हो सकता है जैसा कि शंकुक मानते हैं, क्योंकि विभाव और स्थायी भाव का परस्पर सम्बन्ध साधन और साध्य के परस्पर सम्बन्ध से भिन्न होता है। विभाव व्यंजक मात्र होते हैं। भाव तो सहृदय में ही होते हैं : विभाव के संघात से वे व्यंजित होकर रस रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं। भट्ट नायक अथवा अभिनव गुप्त आदि आचार्यों ने रस के विषय में वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए उसकी सहृदयनिष्ठ व्याख्या थी। इस प्रकार नाट्यानुभूति की सारगर्भित एवं गम्भीर विवेचना की। शंकुक के अनुमितिवाद की तरह ही नाट्य-भ्रान्ति का पाश्चात्य सिद्धान्त नाट्यानुभूति के उस स्वरूप को इंगित नहीं करता जिसे अभिनव गुप्त आदि रस के व्याख्याता आचार्य व्यक्त करने में समर्थ हुए हैं। प्रभाव साम्य की दृष्टि से ही नाट्य-भ्रान्ति के कलात्मक रूप को आँका जा सकता है।

१७वीं शताब्दी में फ्रांसीसी नाट्य-समालोचकों के बीच अन्वितियों का निकष विवाद का विषय बनने लगा। मैरेट (Jean Mairet) प्रभृत नाट्य-समीक्षकों ने नाट्य अन्वितियों के आधार पर ही नाटक की कलात्मकता का मूल्यांकन करने पर

---

१. 'रामाद्य भेद-भावितेन नटे तत्प्रकाशितैरेव विभावादिभिरनुमितः' मल्लिनाथ, पृ० ८५

२. गोविन्द, पृ० ६५

जोर दिया। मैरेट और उनके मत के समर्थक दूसरे समीक्षकों ने कारनील (Corneille) के दु:खान्त सुखान्त नाटक 'लेसिड' की कटु समालोचना इसलिए की, क्योंकि उसमें अन्वितियों का निर्वाह नहीं किया गया था। कारनील के समर्थक आलोचकों ने 'लेसिड' की सर्जनशीलता के विषय में यह मत जाहिर किया कि नैसर्गिक प्रतिभा नियमों में बँधकर साहित्य सृजन में संलग्न नहीं होती। इस प्रकार नाटक की कलात्मकता को मूल्यांकित करने में अन्वितियों की सार्थकता को लेकर विवाद चलता रहा।

पश्चिमी नाट्य-समीक्षा में नाट्य-अन्वितियों के यन्त्रवत निर्वाह का क्रमशः विरोध और नैसर्गिक प्रतिभा की प्रेरणा से लिखे गए नाटकों के समर्थन की प्रवृत्ति बढ़ती गयी है। १७वीं शताब्दी से लेकर १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक निरन्तर इस प्रकार के विचार व्यक्त किए जाते रहे हैं कि अन्वितियों के कठोर नियमों का तिरस्कार करके भी उच्चकोटि के नाटक लिखे जा सकते हैं। ड्रायडन ने तो यह बल देकर कहा है कि अन्वितियों के बन्धन में बँधकर लिखे गए दु:खान्त और सुखान्त नाटकों की अलग-अलग कोटियों में विभक्त रूपगत विशुद्धता की अपेक्षा अंग्रेजी के वे नाटक श्रेष्ठ हैं जिनमें अन्वितियों की उपेक्षा की गयी है और दु:खान्तकी सुखान्तकी की रीतिबद्ध कोटियाँ टूट गयी हैं। ऐसे दु:खान्त सुखान्त मिश्र (Trigi comedy) नाटक की ड्रायडन ने सराहना की है। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आकर स्वच्छन्दतावाद के आविर्भाव के साथ नाट्य-समीक्षा में अन्वितियों के प्रतिमान का प्रबल विरोध परिलक्षित हुआ। 'क्रामवेल' नाटक की भूमिका में विक्टर ह्यूगो ने नाट्य-सृजन में अन्वितियों को अनुपादेय सिद्ध किया, जिसका असर परवर्त्ती नाट्य-चिन्तन पर बहुत पड़ा। रोमाण्टिक धर्मी समीक्षकों ने चरित्रों के संवेगात्मक आत्मोद्गारों को विस्तृत करना ही नाट्य-समीक्षा का अभीष्ट माना तथा पात्रों के स्वगत कथनों एवं विक्षेपात्मक संवादों में सृजन के मर्म का संधान किया।

विक्टर ह्यूगो और परवर्त्ती योरोपीय नाट्य-चिन्तकों ने नाटक की सर्जनशीलता के मर्म को विवृत करने में अन्वितियों के प्रतिमान की अनुपादेयता सिद्ध की। उन्होंने इस विषय में तर्क प्रस्तुत किया कि नाट्य-अन्वितियाँ वस्तुत: एक विशेष देश-काल की उपज थीं। यूनानी रंगशाला की व्यवस्था के साथ ही उनका सीधा सम्बन्ध है। यूनानी रंगशाला में कोरस के कारण स्थान परिवर्तन इतना सुविधाजनक नहीं था जितना शेक्सपियर के नाटकों में सुलभ है, और जो आज की वैज्ञानिक उपकरणों से समृद्ध रंगशाला में सुलभ है। अन्वितियों का रीतिबद्ध निर्वाह प्राय: रचना को कृत्रिम और निर्जीव बना देता है। इसीलिए अन्वितियों के जटिल बन्धन में लिखे गए फ्रांसीसी नाटकों की समालोचना करते हुए ड्रायडन ने लिखा है कि : 'ऐसे नाटकों की शोभा निर्जीव मूर्त्तियों की सुन्दरता के सदृश है'। फिर भी हम देखते हैं कि अन्वितियों में कार्यान्विति का महत्त्व तो सतत् विद्यमान रहा है। वस्तुत: यह कला का एक आधारभूत तत्त्व है। स्वच्छंदतावादी नाटकों में भी स्थान और काल की इकाई तो टूटी है परन्तु कार्य की इकाई को अक्षुण्ण रखने का वहाँ भी प्रयास हुआ है। त्रासदी और कामदी के तत्त्वों का ऐसे

नाटकों में यद्यपि मिश्रण हुआ है परन्तु कार्यगत प्रभावान्विति यहाँ भी विहित है। इसे नाट्यालोचन में आज भी महत्त्व दिया जाता है। नाटक का मूल्य वस्तुतः दर्शक के मन पर पड़ने वाले प्रभाव में ही अन्तर्निहित होता है। 'प्रभावसाम्य नाट्य-भ्रान्ति का ही अंग अथवा लक्षण है'।[1] ड्रायडन ने गतिशीलता को नाटक का विशिष्ट धर्म माना है और स्थानान्विति को विशेष रूप से गतिशीलता का बाधक तत्त्व स्वीकार किया।

नाट्य-आलोचना के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात नाट्य-तत्त्व के मर्म की पहचान है। नाटक के आलोचक के लिए नाट्य-तत्त्वों के विशिष्ट रूपों को पहचानना आवश्यक है। नाट्य-तत्त्व नाट्य-सृजन के उन विशिष्ट गुणों का ज्ञापक है जिनके विनियोग से नाटकीय प्रभाव की सृष्टि होती है। नाटकीय प्रभाव क्या है? इस प्रभाव का उत्स क्या है? इसके सम्बन्ध में कुछ सामान्य धारणाएँ प्रचलित हैं। जनसाधारण प्रायः चमत्कारपूर्ण, आकस्मिक, कुतूहलगर्भित तथा गत्यात्मक घटनाओं और परिस्थितियों को नाट्यगुण विशिष्ट मानता है। परन्तु साहित्य-सृजन के सन्दर्भ में नाट्य-तत्त्व एक पारिभाषिक शब्द है। इसके सम्बन्ध में यद्यपि भारतीय और पाश्चात्य मान्यताएँ भिन्न-भिन्न हैं तथापि किसी न किसी अंश में नाटकत्व विषयक जनसामान्य की उपरिलिखित धारणाएँ सभी में अन्तर्भुक्त हैं। यह बात तो प्रकट है कि संशय आदि उपर्युक्त तत्त्वों के विनियोग से नाट्य-प्रभाव की अनिवार्यतः अभिवृद्धि होती है परन्तु नाट्य-कला के सौन्दर्य का विचार करते समय यह ध्यान रखना भी जरूरी है कि वे तत्त्व कितना परिष्कृत और संकलित प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हुए हैं। उनका अतिरंजित या असंकलित रूप निश्चय ही नाट्य-भ्रान्ति जन्य विश्वसनीयता को क्षीण बना देता है, जिससे उनका कोई गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ता।

भारतीय दृष्टि से नाट्य-तत्त्व नाट्य-सृजन के उन समस्त साधनों को कहते हैं जिनके संयोग से नाट्य-प्रदर्शन में दर्शकवृन्द को रसोद्रेक होता है। रंगशाला में शोभाकारक दृश्यों, अभिनेता के कायिक, वाचिक, सात्विक, और आहार्य आदि अभिनय तथा नाटक के कथामूलक आलेख की विभावात्मक सत्ता आदि के समवाय से रंग-प्रदर्शन दर्शकों के मन में एक विशिष्ट प्रकार की आनन्दमयी चेतना या अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है जिसे नाट्य रस या रस कहते हैं। भारतीय नाट्य-चिन्तन के अनुसार, इस प्रकार नाट्य-तत्त्व रस निष्पत्ति का हेतु है, जिसकी विवृति अवस्थानुकृति अथवा अभिनय द्वारा की जाती है। भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुसार अनुकृति या अनुकरण से अभिनय का ही बोध होता है। नायक की विभिन्न अन्तःबाह्य जीवन दशाओं को रंगमंच पर प्रत्यक्ष करके दिखलाना ही अभिनय है। इस प्रकार नाट्य-तत्व हमारे यहाँ अभिनेयता का पर्याय रूप ही हो सकता है। संक्षेप में रस निष्पत्ति के हेतु रंगशाला में घटित होने वाला अभिनय व्यापार तथा रंग परिवेश ही नाट्य तत्त्व है। भरत मुनि ने नाटक को अभिनय और रंगशाला की ही वस्तु माना है। साहित्य दर्पणकार

---

१. साहित्य सिद्धान्त, डा० रामअवध द्विवेदी, पृ० ८२

प्रभृत परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि नाटक की आलोचना दूसरे काव्य रूपों के साथ रख-कर रस-सिद्धान्त के निकष पर ही की है तथापि रंगशाला की उपादेयता को उन्होंने भी विस्मृत नहीं किया है।

यूरोप में नाट्य-चिन्तन की दो धाराएँ हैं। नाट्य-समीक्षकों का एक वर्ग नाटक की आलोचना उसके काव्यात्मक तथा कलात्मक गुणों पर ध्यान केन्द्रित करके करता है। नाट्य-समीक्षकों का दूसरा वर्ग भी है जो नाटक को रंग परिवेश एवं अभिनयात्मकता से अनिवार्यत: अनुस्यूत मानकर नाट्य-गुणों के विवेचन विश्लेषण में संलग्न हुआ है। पहले वर्ग के समीक्षकों का प्रतिनिधित्व अरस्तू और क्रोचे करते हैं। अरस्तू ने अपने काव्य-शास्त्र में नाटक के तत्त्वों की मीमांसा करते हुए रंगशाला के उपादानों अथवा दृश्यबन्धों को बहुत कम ही महत्त्व दिया है। अन्तिम तत्त्व के रूप में इसका उल्लेख भी किया है। नाट्य-आलोचना में अरस्तू की दृष्टि विशेषकर नाटक के काव्यात्मक वैशिष्ट्य की ओर ही निबद्ध रही है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि अरस्तू को एथेन्स की रंगशाला तथा अभिनय पद्धतियों का ज्ञान नहीं था। इस बात का प्रमाण मिलता है कि वे एथेन्स की रंगशाला, उसकी मंच-व्यवस्था और अभिनय शैली से भली भाँति परिचित थे। तथापि अरस्तू ने शब्द निबद्ध काव्यात्मकता के आधार पर ही दु:खान्त नाटक (गम्भीर नाट्यशैली) के विशिष्ट नाट्य प्रभाव की मीमांसा की है। रंगशाला की साजसज्जा, नृत्य और अभिनय में इस प्रभाव को खोजने की ओर वे अग्रसर नहीं हुए हैं। अरस्तू का अनुसरण करते हुए आर० एस० क्रेन और वेन बूथ प्रभृति नाट्य-समीक्षकों ने काव्यगत प्रतिमानों से ही नाटक की आलोचना की है। दुखान्तकी या सुखान्तकी के रूप में नाटक के वर्गीकरण को स्वीकार करते हुए ये समीक्षक नाटक के रचना तन्त्र के विश्लेषण में प्रवृत्त होते हैं। क्रोचे ने तो नाटक के मूल्यांकन में रंगशाला की उपयोगिता को बिल्कुल ही नहीं स्वीकार किया है। क्रोचे के अनुसार तो नाटक की अभिव्यक्ति भावक के मन में होती है और उसके लिए रंगशाला के बाह्य उपकरणों की कोई जरूरत नहीं है।

उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के यूरोपीय नाट्य-समीक्षकों ने अरस्तू और क्रोचे की मान्यताओं से दृष्टिभेद प्रकट किया है और नाट्य समीक्षा में रंगमंचीय सन्दर्भों को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। फ्रांसीसी नाट्य-समालोचक सार्सी ने नाट्य-तत्त्व की विवृति में रंगमंचीय सन्दर्भों के ग्रहण की आवश्यकता की ओर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया है। बीसवीं शताब्दी में, खास तौर पर इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी तथा अमेरिकाआदि देशों में नाट्यशाला का विशेष ज्ञान रखने वाले नाट्य-समीक्षकों ने नाटक को मात्र कवि की सृष्टि के रूप में न देखकर नाट्य तत्त्व के सम्यक् प्रतिफलन के लिए रंग प्रयोग के सन्दर्भ को ग्रहण करना आवश्यक समझा है। वस्तुत: अभिनेता, निर्देशक, प्रेक्षक तथा दूसरे बहुत से रंगकर्मियों (रंगदीपक, सज्जाकार आदि) के समुचित सहयोग से ही नाट्य-कला का चरम सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। ग्रेनवीन वर्कर, एरिक बैण्टली आदि की समीक्षाओं में नाट्यशाला के उपादानों का विशिष्ट सन्दर्भ ग्रहण किया गया

है। गार्डन क्रेग ने तो विशेष रूप से प्रस्तुतीकरण के महत्त्व की प्रतिष्ठा की है और रंग प्रयोग को एक निजी कलात्मक सत्ता का नया गौरव प्रदान किया है। प्रस्तुतीकरण परक आलोचनाओं में रंगमंच के निजी कलात्मक प्रकरणों को स्फुट करने का प्रयास लक्षित होता है। हिन्दी में भी आज प्रस्तुतीकरण-विशिष्ट समीक्षाएँ होने लगी हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में नाट्य-प्रदर्शनों के विवरण प्रकाशित होने लगे हैं। धर्मयुग, रंगयोग, नटरंग इनैक्ट, रंगमंच, दिनमान, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नाट्य, नवभारत टाइम्स, आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं में महानगरों में होने वाले नाट्य-प्रदर्शनों के वृत्त छपते हैं। ऐसी नाट्य-समीक्षाओं में रंग परिवेश और अभिनय के त्वरित किन्तु क्षणिक प्रभाव की बहुतायत से चर्चा होती है। इससे रंगशाला के भौतिक परिवेश की कलात्मकता-अकलात्मकता तो स्फुट हो जाती है परन्तु नाट्यार्थ की मीमांसा नहीं हो पाती है। नाट्य-आलोचना में नाट्यार्थ मीमांसा की गम्भीर दृष्टि तभी आ सकती है जब पहले यह स्वीकार किया जाय कि नाट्य-कर्म भी तत्त्वतः काव्य कर्म ही है, यद्यपि उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द ही नहीं रंगमंचोपजीवी दृश्यता भी है। नाट्यार्थ का पूर्ण विकास रंगशाला में ही होता है। रंगमंच के भौतिक उपादान नाट्यार्थ को किस प्रकार आलोकित करते हैं? नाट्य शब्द के जरिए होने वाली अर्थव्यंजना के अधूरेपन को दृश्यबल या अभिनय कला कैसे अधिकाधिक व्यक्त करती है? इस दृष्टि से ही विचार किए जाने पर नाट्य-आलोचना अधिक समग्र एवं निजी रूप ग्रहण करने में समर्थ हो सकती है। इस प्रकार की समन्वित आलोचनाएँ हिन्दी नाट्य-समीक्षा में विरल ही हैं।

यह हम पूर्व दिखला आए हैं कि नाट्य-भ्रान्ति और अन्विति के सिद्धान्त से पश्चिमी नाट्य-समीक्षा किस रूप में प्रभावित है। इसे मूलवर्त्ती नाट्य-तत्त्व मान लेने पर नाट्य-समीक्षक नाटक की सर्जनशीलता में किन मूल्यों या कलात्मक सौन्दर्य को अन्वेषित करता है? किन्तु नाट्य सौन्दर्यविषयक उक्त दृष्टि सर्वमान्य नहीं हुई। अन्विति का सिद्धान्त तो बहुत पहले से ही उपेक्षित होने लगा था। भ्रान्ति का सिद्धान्त भी आज अमान्य हो गया है। नाट्य-भ्रान्ति का सिद्धान्त दर्शक एवं दृश्य के बीच अविश्वास के स्थगन पर आधारित है। सम्प्रति बर्टोल्ड ब्रैख्त ने इस सिद्धान्त के विरोध में दर्शक, और दृश्य के बीच सजग पृथक्करण को महत्त्व दिया है। ब्रैख्त का विचार है कि नाट्य-प्रदर्शन के प्रति अविश्वास का स्थगन कर देने पर दर्शक में आलोचक की सी सतर्कता नहीं रह जाती है। इस दशा में वह नाटक के अर्थ को नहीं समझ सकता है। रंगशाला में अभिनय का ग्रहण वह अधिक से अधिक प्रभावाभिव्यंजक रूप में ही कर पाता है। ब्रैख्त ने प्रस्तुतीकरण की ऐसी रीति अपनाने पर बल दिया है जिससे दर्शक में यह चेतना जगे कि रंगमंच पर जो घटित हो रहा है उसके विपरीत भी कुछ हो सकता है, जो काम्य है। इसी को उसने पृथक्करण की संज्ञा दी है, इसकी उपलब्धि के लिए सूत्रधार की तरह ऐसे पात्रों को यह अवतरित करता है, या ऐसे वृन्दगानों की योजना करता है जो नाट्यार्थ के मर्म की व्याख्या करते हैं। इससे दर्शक एक आलोचक की गम्भीर अन्तर्दृष्टि से नाटक के अर्थ सौन्दर्य को ग्रहण

करने में समर्थ होता है, साथ ही नाट्याभिनय में नृत्य-गीत, दृश्यबन्ध सौन्दर्य एवं अभिनय सौन्दर्य आदि के रंजनात्मक प्रभाव को भी प्राप्त करता है। इसकी उपलब्धि के लिए नाटक के प्रस्तुतीकरण में निर्देशक को आलोचक की दृष्टि से रंग-प्रदर्शन का विधान करना पड़ता है। प्रस्तुतीकरण वस्तुतः निर्देशक के द्वारा की गयी नाटक की एक व्याख्या है जो दर्शक को नाट्यार्थ का सम्प्रेषण कराने के लिए की जाती है।

पश्चिम में कतिपय अन्य नाट्य-तत्त्वों को केन्द्र में रखकर नाटक के कलात्मक सौन्दर्य को परखने का प्रयत्न परिलक्षित होता है। कुछ नाट्य-विशारदों का यह मत है कि गति ही नाटक का सारभूत तत्त्व है। नाटक मूक अभिनय की सी स्थिर गति वाली कला नहीं है। वह कथामूलक आलेख के संघात से विकसित एक गतिशील अभिनय व्यापार है। अरस्तू ने एक संहित एवं संकलित तथा विचारगर्भित गत्यात्मक क्रिया-व्यापार के रूप में नाट्य-वस्तु की विवेचना की है। अपने अनुकरण सिद्धान्त में उसने आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की गतिशीलता के सौन्दर्य को विवृत किया है। गत्यात्मकता को महत्त्व देने वाले समीक्षकों की दृष्टि वह नाटक श्रेष्ठ कला का द्योतक है जिसमें अन्तर्बाह्य गतिशीलता संकलित प्रभाव के साथ व्यक्त होती है।

उन्नीसवीं शताब्दी में हेगेल ने द्वन्द्वात्मक पद्धति से त्रासदी की विवेचना कर नाटक में संघर्ष तत्त्व के अनिवार्य महत्त्व को रेखांकित किया है। परवर्त्ती काल में संघर्ष तत्व या द्वन्द्व तत्व को नाट्य आलोचना का केन्द्रीय बिन्दु मान लिया गया। फलस्वरूप नाटक की आलोचना द्वन्द्व और समाधान (कानफ्लिक्ट एण्ड रीकन्सीलिए-सन) के रूप में की जाने लगी। सम्प्रति नाट्य-समीक्षा में संघर्ष या द्वन्द्व को व्यापक रूप से प्रतिमान बनाया गया है। आज नाट्य-आलोचना का मूल लक्ष्य विभिन्न प्रकार के नाटकों में संघर्ष का प्रकाशन हो गया है। नाटकों के सृजनात्मक मूल्य को स्फुट करने के लिए यह दिखलाया जाने लगा है कि नाटक में संघर्ष के कितने धरातल उभरे हैं और नाटककार को उनकी कितनी पकड़ है। द्वन्द्व को नाट्य तत्व का मूल मानने वाले आलोचकों का यह कथन है कि संघर्ष ही नाटक की आत्मा है, क्योंकि बिना संघर्ष के नाटक में चरित्र ऐसे टुलकते नजर आते हैं जैसे कि अवरोधहीन किसी रपटीले संसार में टुलक रहे हों। अतः संघर्ष ही नाट्य-कला का मूलभूत सौन्दर्य विधायक तत्व है। यह संघर्ष कभी एक ही पात्र की विरोधी इच्छाशक्तियों के बीच प्रतिफलित होता है, कभी दो पात्रों के बीच दृष्टिगोचर होता है जो या तो प्रवृत्तिगत भेद के कारण आपस में टकराते हैं या विरोधी नैतिक मूल्यों और आचरणों के कारण एक दूसरे से संघर्ष करते हैं। संघर्ष चाहे जिस कारण से भी उपलक्षित हो वह नाटकीय गरिमा को तभी प्राप्त होता है जब दर्शक या प्रमाता को यह अहसास होता है कि अपने-अपने सन्दर्भ में संघर्ष के उभयपक्ष अपनी-अपनी संगति रखते हैं। संघर्ष को इस रूप में देखने पर ही नाटककार दर्शक या पाठक को यह अनुभव कराने में समर्थ हो सकता है कि यह संघर्ष दो व्यक्तियों या एक ही व्यक्तित्व की द्विधाविभक्त अन्तःकरण के परस्पर अपरिहार्य असामंजस्य का अनिवार्य परिणाम है। इसी स्थिति

में उसमें कलात्मक सौन्दर्यानुभूति का आधान होता है। हेगेल के इस सिद्धान्त का आधुनिक नाट्य-आलोचना पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। इस दृष्टि से ए० सी० ब्रैडले की नाट्य आलोचनाएँ उद्धृत की जाती हैं। उनकी आलोचनाओं के मूल में हेगेल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की स्वीकृति है।

इधर हाल में रोनाल्ड पीकाक ने सार्त्र के 'कल्पना के मनोविज्ञान' (साइकोलॉजी आफ इमैजिनेशन) से प्रेरणा ग्रहण करके बिम्बों और प्रतिमानों के अध्ययन के माध्यम से नाट्यकला के मर्म को विवृत करने की आलोचना शैली अपनायी है। क्योंकि नाटक एक ऐसा कला रूप है जो एक साथ ही साहित्य और रंगमंच दोनों से सम्बन्धित होता है, अतः उसकी समालोचना न तो विशुद्ध काव्यात्मक प्रतिमानों से की जा सकती है न ही रंगमंच के उपादानों के आश्रय से ही की जा सकती है। काव्य के अन्य रूपों से तो नाटक का रूप पृथक् होता ही है, मात्र तमाशों से भी यह भिन्न प्रभाव सत्ता वाला है। उसकी अपनी अर्थवान संवेदनात्मक सत्ता है। वह केवल अर्थहीन मनोरंजन नहीं हैं।

नाटक की अपनी अलग ही कलात्मक संरचना या आंतरिक बुनावट होती है। यह आन्तरिक बुनावट (इन्टर टेक्स्चर) केवल भाषा के माध्यम से नहीं, अपितु रंगोपकरणों के माध्यम से भी होती है। शब्दों और हृदयबन्धों के रूप में जो उपमान, बिम्ब या प्रतीक व्यक्त होते हैं, वे नाटक में एक विशिष्ट परस्परता के साथ अनुस्यूत होते हैं, अतः नाटक की संरचना कला और अभिव्यंग्य का मर्म जानने के लिए उपमानों, बिम्बों एवं प्रतीकों का विश्लेषण समन्वय चाहते हुए भी शुक्लजी उसका लक्ष्य रस-संचारी मानने के पक्षपाती हैं।[1] किन्तु साहित्यिक मूल्यांकन के सार्वभौमिक आधार के रूप में 'रस सिद्धान्त' को जिस पारिभाषिक अर्थ के रूप में ग्रहण किया गया है, वह केवल 'हृदय की अनुभूति' तक ही सीमित नहीं है।[2] उनकी दृष्टि में 'अर्थमीमांसा' के बिना रस की सार्थकता नहीं होती। बिना अर्थमीमांसा के रस ग्रहण प्रभाववादी आलोचना का ही रूप है। शुक्लजी की विश्लेषणात्मक पद्धति में इस प्रकार की आलोचना को स्थान नहीं मिल सकता है। भरत मुनि के नाट्य रस में जहाँ विभावादिकों के संयोग से रस की चर्चा हुई है, वहीं प्रयोजन का भी उल्लेख है जो प्रकारान्तर से अर्थमीमांसा द्वारा ही ग्रहण होता है। भरत की नाट्य रसविषयक परिकल्पना में रंग परिवेश का संदर्भ भी जुड़ा हुआ है। अतः यदि भरत मुनि के नाट्य रस का सही पारिभाषिक अर्थ ग्रहण किया जा सके, तथा उसकी निष्पत्ति की समस्त प्रक्रियाओं को मूल्यांकित किया जाय तो वह नाट्य मूल्यांकन का एक सार्वभौमिक प्रतिमान बन सकता है। परन्तु रस को केवल 'हृदय की अनुभूति' तक सीमित रखने पर नाट्य मूल्यांकन में उसकी सार्थकता के विषय में आपत्ति हो सकती है, परन्तु हिन्दी में रंगमंच की कमी के कारण नाट्य आलोचकों द्वारा यह बात भुलाई जाती रही है कि नाट्य

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६१०
२. कविता के नये प्रतिमान, डा० नामवर सिंह, पृ० ४७

रस में रंगमंचीय परिवेश का भी आयाम जुड़ा होता है और वह केवल अभिनेयता तक ही सीमित नहीं है। उसकी व्याप्ति नाट्यधर्मी तथा यथार्थमूलक दृश्यबन्धों और इसी प्रकार के अन्य रंगकर्मों को भी समाहित करती है। नाट्य रस की निष्पत्ति इन सबके सम्मिलित प्रभाव से संभव होती है, केवल कथामूलक आलेख के माध्यम से ही उसका रूप स्फुट नहीं होता।

सम्प्रति प्रस्तुत शती के साठोत्तर से हिन्दी नाट्यालोचन और सर्जनशीलता दोनों में ही नयी गति आई है। नाट्य समीक्षक नाटक के मूल्यांकन में कथ्य और शिल्प को अधिकाधिक समीचीन संदर्भों में देखने का प्रयत्न करने लगे हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने नाटक को, उसके सौन्दर्यशास्त्र को पहली बार संभवतः एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने का प्रयत्न किया था। उन्होंने नाटक आलोचना के संदर्भ में समीक्षकों का ध्यान तीन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की ओर आकृष्ट किया। पहली बात तो यह है कि नाटक का आवेदन व्यक्ति के प्रति न होकर समूह के प्रति होता है। यह एक सामाजिक कला है, जिसके कारण इसकी अपनी कतिपय सांस्कृतिक और प्रस्तुतीपरक अपेक्षाएँ होती हैं। इस प्रकार वाजपेयी जी ने दर्शक के संदर्भ में रखकर नाट्यकृतियों के आवेदन के मूल्यांकन का संकेत किया। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि वाजपेयी जी ने नाटक रचना की कला और प्रस्तुतीकरण की कला के बीच भेद किया। दोनों की सृजनात्मक अपेक्षाओं में मौलिक अन्तर होता है। अतः उनके विचार में : "किसी भी नाट्य लेखक की कृतियों का अभिनय के योग्य संस्करण प्रस्तुत करना कोई अपराध नहीं है।" निर्देशक किसी नाटककार के सृजन को रंगमंचीय आवश्यकता के साथ कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन कर सकता है। परन्तु इस परिवर्तन-परिवर्द्धन में यह ध्यान रखना चाहिए कि नाट्यार्थ का संप्रेषण न केवल अपने स्वरूप में अपितु अपने प्रभाव में भी अक्षुण्ण रहता है। परन्तु आज के हिन्दी नाटककार प्रायः यह शिकायत करते सुने जाते हैं एक समीचीन आधार हो सकता है। नाटक में उपमानों तथा प्रतीकों का अवतरण काल्पनिक ऐन्द्रिय व्यापार के रूप में भी हो सकता है और प्रत्यक्ष रूप में इन्द्रियों को ग्रहण होने वाला भी हो सकता है। भाषा निबद्ध उपमानों, प्रतिबिम्बों और प्रतीकों में तो भाव दीप्ति की सहज भक्ति होती ही है, रंगशाला के प्रत्यक्ष गोचर दृश्यबन्ध, अभिनय आदि भी, उपमान, बिम्ब अथवा प्रतीकमूलक सत्ता के रूप में भी प्रकट होते हैं। वे कलात्मक प्रभाव के हेतु ही नियोजित होते हैं। प्रत्यक्ष गोचर उपमान और प्रतीक नाट्यधर्मी और लोकधर्मी दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं और उनमें अभिव्यंजकता का गुण होता है। इस प्रकार दृश्यात्मक विधान के द्वारा भी वस्तुतः दर्शकवृन्द की कल्पना को सत्वर गति से उद्‌बुद्ध करते हुए उन्हें वस्तु व्यापार की अनुभूति कराई जाती है। प्रत्यक्षगोचर दृश्यों का (जो प्रतीकात्मक और उपमान सापेक्ष उपमेय की अभिव्यक्ति वाले होने के कारण, भावोत्थान के भौतिक कारण होते हैं) दर्शकवृन्द पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इसके कारण नाटक का रंग प्रभाव दूसरे साहित्य रूपों के प्रभाव की तुलना में अधिक निविड़ और प्रखर सत्ता

वाला होता है। इसलिए 'काव्येषु नाटकम् रम्यम्' की सिद्धि है। नाट्य आलोचक, उपमान और प्रतीकों के इस उभयात्मक विधान का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए नाटक के संरचनात्मक और संवेदनात्मक सौन्दर्य को विवृत करने में समर्थ हो सकता है। इससे नाट्यसमीक्षा में अपना निजीपन भी अक्षुण्ण रहता है और उसमें साहित्य-समीक्षा की सी गम्भीरता भी आ सकती है। साहित्य-रचना में उपमान और प्रतीक ही ऐसे तत्त्व हैं जो कृति के **भावात्मक और रूपात्मक** सौन्दर्य को एक साथ ही प्रस्फुटित कर देते हैं। नाटक भी काव्य का ही एक अंग है। अतएव उसकी दृष्टि में उपमान और प्रतीकों के विनियोग द्वारा कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करने की दृष्टि अनिवार्यता : परिलक्षित होती है। प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक ऐनाल्ड पीकाक ने इसे नाट्य आलोचना का सार्वभौम प्रतिमान मानने की वकालत की है।[1] उपमानों और प्रतीकों के विश्लेषण के माध्यम से रचना के रूपविधान, शील-सौन्दर्य, संवादों की नाट्योचित भंगिमा, संघर्षशीलता दृश्यात्मकता, अर्थवत्ता, संवेदनशीलता आदि सर्जनशीलता के सभी पक्षों को विवृत किया जा सकता है।

हिन्दी नाट्यालोचन की प्रवृत्तियाँ और प्रतिमान

हिन्दी में अधिकतर वर्णनात्मक साहित्यिक आलोचना शैली ही अपनायी जाती रही है। फलस्वरूप वस्तु, नेता, रस और अभिनय प्रणालियों के प्राचीन निकषों पर नाटक के सृजन को कसने का अधिक प्रयास हुआ है। पश्चिमी नाटक के संघात से हिन्दी नाटक में संघर्ष तत्त्व और विचार तत्त्व के अन्तर्भाव की ओर भी विचारकों का ध्यान तो गया पर हिन्दी नाट्य आलोचन के लिए किसी सार्वभौमिक नये प्रतिमान को खोजने का प्रयत्न नहीं हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संघर्ष तत्व के अन्तर्भाव के कारण प्रसाद के नाटकों में प्रतिफलित शीलवैचित्र्य की सराहना की है, परन्तु इसे भारतीय रसविधान के साथ समन्वित होकर प्रकट होने के कारण ही ग्राह्य माना है। शुक्लजी रसानुयायी होने के कारण नाटक में काव्यत्व तथा भावात्मकता की सुरक्षा के पूरे पक्षपाती हैं। इसीलिए लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाट्य-सृजन के सन्दर्भ में उन्होंने पश्चिमी नाटकों की आधुनिक यथार्थवादी प्रवृत्तियों के संघात से लक्षित काव्यत्व तथा भावात्मकता के ह्रास पर असन्तोष व्यक्त किया है। संस्कृत के रस तत्व तथा पश्चिम के अन्त:प्रकृति वैचित्र्य तत्व के समन्वय की शुक्लजी ने प्रशंसा की है। हिन्दी नाटक में भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यशैली का अमुक निर्देशक ने प्रस्तुतीकरण की रचना करते हुए उसके नाटक के अर्थ का अनर्थ कर दिया। इसे निर्देशक की दुर्बलता ही कहा जायगा। निर्देशक को नाटक के मूल्य और सौन्दर्य की गम्भीर पकड़ होनी चाहिए। साथ ही नाटक के अपने आन्तरिक रचना तन्त्र के अनुसार ही प्रस्तुतीकरण की योजना करनी चाहिए। प्रत्येक नाटक की अपनी निजी आन्तरिक बुनावट होती है। प्रस्तुती-

---

१. देखिए : 'आर्ट आफ ड्रामा' लेखक रोनाल्ड

करण में उसे पहचानना बहुत आवश्यक है, तभी प्रस्तुतीकरण प्रामाणिक हो सकता है। प्रामाणिक प्रस्तुतीकरण ही नाट्य आलोचना का प्रासंगिक संदर्भ है, न ही अपने में नाटक इसका सन्दर्भ है और न ही अप्रामाणिक नाट्य प्रदर्शन ही।

हिन्दी में आज रंगमंचीय प्रदर्शन की दृष्टि से काफी नाट्य समीक्षाएँ प्रकाश में आने लगी हैं। पत्र-पत्रिकाओं में नाट्य प्रदर्शनों के बारे में विस्तृत टिप्पणियाँ या समीक्षाएँ छपती हैं। इनमें से अधिकांश बहुत गम्भीर नहीं होतीं। वे नाट्य के कथ्यात्मक मूल्य का विश्लेषण प्रस्तुत नहीं करतीं अपितु अभिनय या दृश्यबन्ध के किसी एक या दूसरे रूप की सराहना करके ही अपने कर्म की इतिश्री मान लेती हैं। इन आलोचनाओं में नाटक की सर्जनशीलता समग्रता नहीं उभरती है। इसके अतिरिक्त मूल्यांकन विषयक उनके प्रतिमान भी पश्चिम से उधार लिए गए होते हैं। अतः नाट्य प्रदर्शन के शोभन-अशोभन, सांस्कृतिक-असांस्कृतिक, मूल्य और मूल्य विघटन आदि के सम्बन्ध में कभी-कभी तो विलक्षण विचार व्यक्त किये जाते हैं। दैनिक पत्रों में छपी नाट्य-समीक्षाओं में कभी-कभी यह अतिवाद दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः नाट्यालोचक को चाहिए कि वह भाषा, अभिनय, दृश्यबन्ध, अभिनेता की गतियों, चर्याओं, मुद्राओं, पात्र-समूहन की परिकल्पना, मंचगत भेद, आदि सभी माध्यमों का सम्यक् विचार करते हुए नाट्यार्थ एवं नाट्यानुभूति को, उसका संप्रेषणीतया को विवृत करे। हिन्दी नाट्यालोचन को अभी यह लक्ष्य प्राप्त करना है।

आधुनिक नाट्यालोचन

आलोचना के विकास के सन्दर्भ में एक सामान्य बात कही जाती रही है कि जब रचना परिपक्वता को प्राप्त करती है तो आलोचना विकसित होती है। इस सामान्य सिद्धान्त के पीछे यह स्वीकृत सत्य छुपा हुआ था कि रचयिता अन्य व्यक्ति होता है तथा आलोचक अन्य। आधुनिक नाट्यालोचन के साथ यह बात नहीं। आधुनिक नाट्यालोचन का अधिकांश उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया है जो स्वयं नाट्यकार हैं। इन नाटककारों ने जो विभिन्न नाट्य प्रयोग किये उनके स्पष्टीकरण के लिए बड़ी-बड़ी भूमिकाएँ लिखीं या स्वतन्त्र लेखन प्रस्तुत किया। इसीलिए आधुनिक नाट्यालोचन नाट्य सृजन के समानान्तर विकसित हुआ है। नाटककार आलोचकों के अलावा नाट्यालोचन के क्षेत्र में कुछ ऐसे सामान्य आलोचक भी आये जो मात्र आलोचक हैं, कविता के भी, कहानी के भी, उपन्यास के भी और नाटक के भी। इन्द्रनाथ मदान, देवीशंकर अवस्थी, निर्मला जैन, कुमार विमल आदि ऐसे ही आलोचक हैं। तीसरे वर्ग के ऐसे आलोचक हैं जो विशुद्ध रूप से नाट्यालोचन से सम्बद्ध रहे हैं। डा० लक्ष्मीनारायण लाल, विपिन कुमार अग्रवाल, गिरीश रस्तोगी, सिद्धनाथ कुमार, नेमिचन्द्र जैन, डा० रघुवंश, सत्यव्रत सिन्हा आदि के नामों को इसी वर्ग के आलोचकों में रखा जायेगा। आधुनिक नाट्यालोचन के विकास के माध्यमों पर विचार करने पर हम पाते हैं कि आधुनिक नाट्यालोचन निम्न माध्यमों से विकसित हुआ है :

(१) विभिन्न नाटककारों द्वारा अपने नाटकों में प्रस्तुत भूमिकाओं के माध्यम से;

(२) विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित छोटे-बड़े आलोचकों के आलोचनात्मक निबन्धों के माध्यम से;

(३) स्वतन्त्र आलोचना ग्रन्थों के माध्यम से;

(४) रंगमंच को समर्पित पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से;

(५) पत्र-पत्रिकाओं में प्रस्तुत व नाटकों की कृति समीक्षा एवं प्रस्तुति समीक्षाओं के माध्यम से।

आधुनिक नाट्यालोचन इन माध्यमों से १९६० के बाद विकसित हुआ। नये नाटक १९६० के बाद लिखे गये जिनकी भूमिकाएँ महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। आधुनिक नाट्यालोचन पर आधारित प्रथम पुस्तक डा० रघुवंश की १९६१ में सामने आयी। रंगमंच को समर्पित पत्रिकाएँ नटरंग और रंगयोग १९६० के बाद अस्तित्व में आयीं।

१९६० के बाद राज्यों की राजधानियों में रवीन्द्र भवन निर्माण कराये गये जिन्होंने नाट्य प्रस्तुतियों को सहारा दिया और नाट्य प्रदर्शन की प्रस्तुति समीक्षाएँ सामने आने लगीं। प्रस्तुति समीक्षा पहले की तरह विरल नहीं रह गयी। इन सभी परिस्थितियों ने आधुनिक नाट्यालोचन को आगे बढ़ाया।

स्पष्टत: आधुनिक नाट्यालोचन का प्रारम्भ १९६० ई० के बाद से होता है जब रंगमंच को जन-जीवन में प्रतिष्ठा मिली। नाट्यालोचन रंगमंच से जुड़कर आगे बढ़ा। इसके पूर्व चूंकि नाटक और रंगमंच का सम्पर्क-सूत्र विच्छिन्न था, इसलिए एक विशेष प्रकार की पारम्परिक शैली में नाट्यालोचन की परम्परा चल रही थी। इस आलोचना शैली का आधार शास्त्रीय था लेकिन आलोचना को जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से उत्पन्न अनुभूतियों से जोड़ने की दृष्टि का अभाव रहा। फलत: नाट्यालोचन के नाम पर प्रस्तुत अधिकांश आलोचनाएँ या तो इतिवृत्तात्मक रहीं या फिर काव्यालोचन मात्र। दशरथ ओझा और सोमनाथ गुप्त के नाट्येतिहास में इस काव्यालोचनात्मक इतिवृत्त के दर्शन होते हैं। इसका संशोधित स्पष्ट उदाहरण है श्री ब्रजरत्न दास का "हिन्दी नाट्य साहित्य"। वस्तुत: यह आलोचना शैली उस युग की देन है जब नाटक को रंगमंच प्राप्त नहीं था। इन पाठ्य नाटकों की एक अन्य विशेष आलोचना शैली रही है, अध्यापकीय आलोचना शैली, जिसमें नाटक के तत्त्वों के आधार पर नाटकों की समीक्षा-परीक्षा प्रस्तुत की जाती रही है। 'एक अध्ययन' एवं 'शास्त्रीय अध्ययन' शैली के इन नाट्यालोचनों का महत्त्व परीक्षोपयोगी होकर रह गया है। डा० जगन्नाथ शर्मा द्वारा प्रस्तुत 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' शोधपरक होने पर भी इसी कोटि के नाट्यालोचन में गिना जायगा। लगभग यही स्थिति १९६० ई० के आसपास तक बनी रही।

डा० मदान यद्यपि भुवनेश्वर में नाट्यालोचन की आधुनिक दृष्टि की उपस्थिति पाते हैं लेकिन १९३६ से १९६० ई० के बीच की कड़ियाँ वे भी प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं।[1] १९६१ ई० में डा० रघुवंश पहली बार नाट्यालोचन की आधुनिक दृष्टि लेकर सामने आते हैं। डा० रघुवंश में आलोचक की वह व्यापक दृष्टि पहली बार मिलती है जिसके अन्तर्गत वे नाट्य-रचना और नाट्य प्रस्तुति दोनों को 'नाट्यकला' के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं।[2] इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जहाँ नाटककार अपने भौतिक अनुभवों के सहारे अपने मानसिक अनुकरण रच भावानुभूति के स्तर पर रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है वहाँ सूत्रधार नाटककार की इसी रचनात्मक अभिव्यक्ति को अनुभवगम्य भौतिक प्रदर्शनों के सहारे रंगमंच पर अवतरित करता है। आधुनिक नाट्यालोचन में नाटक और रंगमंच को सम्बद्ध कर देखने की दृष्टि का यह प्रारम्भ है। अत: कहा जा सकता है कि रंगमंच के आविर्भाव और विकास ने आधुनिक नाट्यालोचन को सबसे पहले और सबसे अधिक प्रभावित किया। 'एक

१. आलोचना (त्रै०) दिल्ली ६, नवांक २६ जु०, ७३, इन्द्रनाथ मदान का लेख, पृ० ३८
२. नाट्यकला, डा० रघुवंश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली ६, १९६१, पृ० ६४

अध्ययन', 'शास्त्रीय अध्ययन', 'रूपक रहस्य' एवं 'समीक्षाशास्त्र' की शैली में किये जा रहे नाट्यालोचन में रंगमंच के आविर्भाव से एक मोड़ आया। रंगमंग के प्रादुर्भाव ने नाट्य-सृजन की परम्परा को नवीन उद्भावनाओं की सम्भावनाएँ प्रदान कीं और नाटकों को सार्थकता दी। नये नाटकों के साथ-साथ नया नाट्यालोचन अस्तित्व में आने लगा जिसने नाटकों को केवल रचनात्मक धरातल पर निरखने-परखने से ऊपर उठकर उसे मंचीय धरातल पर देखने-समझने की नयी परम्परा का श्रीगणेश किया। इस परम्परा का प्रारम्भ किया राजकुमार ने।[1] राजकुमार ने रंगमंच के व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष को नाटक के सन्दर्भ में देखने-परखने में पहल की।

नवनाट्यालोचन सर्वप्रथम 'नाट्य' शब्द के रूप में 'नाटक' को विशद अर्थ प्रदान करता है। इसके अन्तर्गत वह नाटक की पाण्डुलिपि, प्रस्तुति, अभिनय, और दर्शकों को भी स्वीकार करता है। आधुनिक नाट्यालोचन में नाट्यकृति और नाट्य प्रस्तुति के सम्बन्धों की गहराइयों की खोज, नये सम्पर्क-सूत्र का अन्वेषण और विकास की नवीन सम्भावनाओं का आकलन प्रमुख है। कथावस्तु, पात्रयोजना, संवाद एवं भाषा-शैली आदि की दृष्टि से किसी नाट्यकृति की शास्त्रीय समीक्षा की तुलना में नाटक को पूरी रंग-प्रक्रिया से जोड़कर देखने में तथा नाटक की सर्जनात्मक प्रक्रिया को समकालीन जीवन मूल्यों से जोड़ने में आधुनिक नाट्यालोचक व्यस्त है। रंगमंच को लिखित अथवा अलिखित नाट्यकृति की अभिव्यक्ति मानकर डा० लक्ष्मीनारायण लाल नाट्यकृति को ही जब रंगमंच के मूर्त सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं तो प्रकारान्तर से इसी आलोचना की दृष्टि की पुष्टि करते हैं। स्पष्ट ही डा० लाल नाटक को ही व्यापक एवं मूर्त रूप में रंगमंच मानते हैं, यह नाटक और रंगमंच के सम्बन्धों के अन्वेषण की एक दृष्टि है। नाटक और रंगमंच को कार्य-कारण न्याय से सम्बद्ध कर, एक-दूसरे को पूरक और पर्याय मानकर नाटक को मात्र पाण्डुलिपि होने की सीमा से स्वतन्त्र कर नवनाट्यालोचन के क्षेत्र में डा० लाल 'नाटक और रंगमंच की भूमिका'[2] प्रस्तुत करते हैं। 'रक्तकमल' (१९६२) की भूमिका में डा० लाल ने यह माना है कि नया नाटक विभिन्न रंगशैलियों और नाट्य प्रयोगों का संग्रह है, परम्परा का 'हैंगओवर' नहीं, इसलिए नये नाटककार और रंगकर्मियों को विराट कार्यक्षेत्र देता है।[3] डा० लाल के समक्ष उस समय समस्या थी कि नाटक अपने व्यावहारिक रंगमंच के लिए निमित्त हो, लेकिन नाटक की शैली और शिल्प क्या हो ? रंगमंच था नहीं जिससे नाटक का प्रयोग निर्धारित हो। नाटककार के रूप में वे इस कमी को महसूस

---

१. नाटक और रंगमंच, राजकुमार, हिन्दी प्रचारक संस्थान, पिशाचमोचन वाराणसी १९६१, प्रस्तावना एवं पृ० ११-१२

२. नाटक और रंगमंच की भूमिका, लक्ष्मीनारायण लाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज दिल्ली-६, १९६५, पृ० १४-१५

३. रक्तकमल (नाटक), लक्ष्मीनारायण लाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ११०००२, पृ० सं० १९६९, द्र० भूमिका, पृ० १६-२१

कर पाये, फलतः अपने नाटकों में किये गये विभिन्न नाट्य प्रयोगों को एक आलोचक के रूप में उन्हें स्पष्ट करना पड़ा। अस्तु, एक आलोचक के रूप में जब वे आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच पर विचार करते हैं तो एक ओर उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा और दूसरी ओर सूक्ष्म आलोचक दृष्टि काम कर रही होती है।[1] इसलिए वे प्रसाद और भारतेन्दु को तत्कालीन रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में आँकते हैं और चूंकि वे रंगमंच को नाटक का मूर्त्त रूप मानते हैं, इसलिए प्रसाद के नाटकों के भीतर छिपे हुए रंग-मंच के स्वरूप को उजागर कर सकने में सक्षम होते हैं। रंगमंच दर्शकों से जुड़ा है, इसलिए 'नाटक' का दर्शकों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी वे इसी पृष्ठभूमि में स्वीकार करते हैं। नाटककार-आलोचक मोहन राकेश नाट्यरचना और नाट्य प्रस्तुति को प्रक्रिया के स्तर पर अलगाते हैं तो प्रकारान्तर से डा० लाल की स्थापना को ठुकराते ही हैं। राकेश की दृष्टि में नाट्य-रचना, नाटककार के अकेले कमरे और व्यक्तित्व की प्रक्रिया है जबकि नाट्यप्रस्तुति प्रस्तोता के व्यक्तित्व की विभिन्न अन्तःप्रक्रियाओं से गुजरकर एक सामूहिक दृश्य प्रस्तुत करती है।[2] राकेश जी की स्थापना के अनुसार प्रस्तुति की आलोचना अलग हो जाती है और नाट्य-कृति की सर्जनात्मक आलोचना अलग। इससे एक सम्भावना जरूर उभरती है कि दोनों ही शैलियाँ स्वतंत्र रूप से विकसित होकर रंगालोचन का एक विराट स्वरूप निर्मित्त करेंगी। जहाँ तक राकेश जी की स्थापना का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि बन्द कमरे में बैठा नाटककार रंगमंच और दर्शकों की सीमा को भूलकर नाटक नहीं लिख सकता। अगर लिखता है तो उसे फिर अपने नाटक में वैसे ही संशोधन करना पड़ता है जैसे राकेश जी को स्वयं करना पड़ा था।

सभी रचनात्मक विधाओं के अपने आलोचना-प्रतिमान होते हैं। नाटक के भी हैं। रचनात्मक साहित्य के विधागत अन्तर से आलोचना के मूल्यमान बदल जाते हैं। कविता की आलोचना-शैली में कहानी या नाटक की आलोचना नहीं हो सकती। इस दृष्टि से आधुनिक नाट्यालोचन में मूल्य संक्रमण के लक्षण दृष्टिगत होते हैं। जब अन्य रचना-विधा के रचयिता नाट्य-रचना की ओर प्रवृत्त होते हैं तो इसकी संभावना भी रहती है। इस स्थिति में नाट्यालोचन आलोचना के किसी स्थिर मूल्यमान की ओर अग्रसारित भी हो सकेगा या नहीं यह विचारणीय हो जाता है। अश्क जितने उपन्यासकार हैं उतने ही नाटककार भी हैं अगर एकता है तो फिर 'कैद' को 'लौटता हुआ दिन' के रूप में संशोधित करने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए थी।[3] सर्वेश्वरदयाल सक्सेना नयी कविता के पुरोधा माने जाते रहे हैं। १९७४ के उनके नाटक 'बकरी' ने उन्हें नाटककार के रूप में भी ख्याति दी है। 'बकरी' नाटक उनके

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच, लक्ष्मीनारायण लाल, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद १९७३, पृ० १४, ३० एवं पृ० ८३-९०

२. नटरंग (त्रै०), नई दिल्ली-१४, मोहन राकेश स्मृति अंक में राकेश का लेख, पृ० १३

३. लौटता हुआ दिन (नाटक), उपेन्द्रनाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन इलाहाबाद, १९७२, भूमिका द्रष्टव्य

कविता संग्रह 'कुआनो' नदी के साथ सामने आया है । कुआनो नदी का क्रांति का सूत्र-धार बकरी में भी मौजूद है ।[1] विचारणीय है कि कुआनो नदी से बकरी में केवल गान्धी बाबा, उनकी बकरी और बकरी का चिचियाना ही नहीं आया है इसके साथ कुछ स्वीकृत धारणाएँ, कुछ स्वीकृत मूल्य और प्रतिमान तथा संवेदना भी आयी है । मूलतः रचयिता की वही दृष्टि कुआनो नदी में भी थी जो बकरी में है । कहानीकारों या कवियों को नाटक लिखने की मनाही नहीं है। हिन्दी के काफी नाटककार साहित्य-रचना के विभिन्न क्षेत्रों में सम्बद्ध रहे हैं। हिन्दी नाटक विभिन्न विधाओं की विशेषताओं से मंडित हुआ है। लेकिन जब विभिन्न विधा से सम्बद्ध आलोचक नाट्यालोचन के क्षेत्र में आते हैं तो मूल्य संक्रमण का भय बढ़ जाता है । डा० इन्द्र-नाथ मदान ने कहानी की आलोचना से सम्बद्ध होने के कारण देवीशंकर अवस्थी के नाट्यालोचन क्षेत्र में प्रवेश पर आपत्ति प्रकट की है। अवस्थी जी नाटक की आलोचना और रंगशाला आलोचना से सम्बद्ध रहे हैं, इसलिए डा० मदान की दृष्टि में वे कहानी और नाटक के विधागत अंतर को आँकने से रह गये हैं ।[2] अगर अवस्थी जी के नाट्यालोचन के इस प्रतिमान को स्वीकृत कर लिया जाता है तो नाट्यालोचन एक पृथक् वस्तु हो जाता है और रंगशाला आलोचना पृथक् वस्तु, जबकि आन्तरिकता के कारण दोनों को एकसाथ रखकर देखा-परखा जाना चाहिए ।

डा० मदान आलोचक हैं पर विशेष रूप से नाट्यालोचक नहीं । सामान्यतः वे सभी रचनात्मक विधाओं पर विचार करते हैं । इसलिए नाट्यालोचन के बाद जब वे हिन्दी नाटक और रंगमंच की पहचान और परख प्रस्तुत करते हैं तो स्वयं ही नाट्यालोचन और रंगालोचन शीर्षक से उसके दो खण्ड कर देते हैं जबकि जो रंगालोचन है व्यापक अर्थ में वही नाट्यालोचन भी । यह विभेद संभवतः उन्होंने वर्गीकरण की सुविधा की दृष्टि से किया हो, लेकिन संभावना इस बात की भी है कि 'नाट्य' शब्द को उसके व्यापक अर्थ में वे स्वीकृत न कर पाये हों । यह धारणा तब कुछ और पुष्ट हो जाती है जब रंगालोचन खण्ड में प्रस्तुत उनके संकलित निबंध रंगशाला आलोचना का और नाट्यालोचन खण्ड में संकलित निबन्ध काव्यालोचन पक्ष का प्रतिनिधित्व करने लगते हैं । जिस गलती के लिए वे डा० अवस्थी को लताड़ते हैं शायद अनजाने में वे स्वयं उसी गलती को दुहरा बैठते हैं ।[3]

अब से कुछ दिन पूर्व तक हमारे यहाँ भारत का नाट्यशास्त्र नाट्यालोचन का आधार रहा । इस प्रकार भारतीय नाट्यालोचन ने ढाई हजार वर्ष तक यात्रा की । निश्चय ही भारत का नाट्यशास्त्र उन्नत संस्कृत रंगमंच की देन रहा है । लेकिन

---

१. आलोचना (त्रै०), दिल्ली-६, नवांक-३१, अक्टूबर, ७४ में बागीश शुक्ल की पुस्तक समीक्षा, पृ० ६४

२. आधुनिकता और आलोचना, इन्द्रनाथ मदान, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली-६, १९७५, पृ० १३३

३. हिन्दी नाटक और रंगमंच : पहचान और परख, सं० इन्द्रनाथ मदान, लिपि प्रकाशन, दिल्ली-५१, १९७५, विषय-सूची में प्रस्तुत वर्गीकरण द्रष्टव्य ।

आधुनिक युग की वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों ने, नवीन नाट्यशैलियों के अभ्युदय ने, विभिन्न प्रभावों से संश्लिष्ट नाट्य प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया कि भरत का नाट्यशास्त्र आधुनिक नाट्यालोचन की वर्तमान शैली के लिए सर्वत्र एवं सर्वथा उपयुक्त आधार नहीं हो सकता। इसलिए या तो ऐसे स्थलों एवं स्थापनाओं का संशोधन और परिमार्जन अपेक्षित समझा गया या फिर नये नाट्यशास्त्र रचे जाने की बात चलाई गयी। वर्तमान रंगमंच को ध्वनि और प्रकाश संयोजन की इतनी वैज्ञानिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं जितनी भरत के समय नहीं थी। इसने न केवल आज के रंग-शिल्प और मंच-शिल्प में क्रान्तिकारी मोड़ पैदा किया है अपितु एक सीमा तक नाट्य-रचना के शिल्प को भी प्रभावित किया है। आज का नाट्यालोचन इन उपलब्धियों से केवल इसलिए मुँह नहीं मोड़ सकता कि भरत के नाट्यशास्त्र में ऐसी किसी व्यवस्था का वर्णन नहीं है। स्वाभाविक था कि नाट्यालोचन के नये प्रतिमानों की खोज होती अथवा नया नाट्यशास्त्र रचा जाता। भारतेन्दु ने भी नये नाट्यशास्त्र की आवश्यकता अनुभव की थी। पण्डित सीताराम चतुर्वेदी ने नये नाट्यशास्त्र की खोज ही नहीं की उसे गढ़ा भी।[1] चतुर्वेदी जी ने आधुनिक युग की उपलब्धियों और आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर परम्परा से उतना ही लिया जितना अपनी बात को समझाने के लिए उन्हें आवश्यक लगा और परम्परा से जितना लिया उसकी व्याख्या भी उन्होंने अपनी आधुनिकता से मण्डित दृष्टि से की। आधुनिक नाट्यालोचन के समक्ष पाश्चात्य रंगमंच का 'ड्रामा' भी है और पारस्परिक नाट्य भी। आधुनिक नाट्य-रचना को समझने के लिए दोनों को समझना आवश्यक समझकर ही वे अपने 'अभिनव नाट्यशास्त्र' को पूर्णता प्रदान कर सकते थे। 'पाश्चात्य और भारतीय रंगमंच' के तुलनात्मक अध्ययन से उन्होंने अपनी शास्त्रीय दृष्टि को माँजा और भारतीय नाटक एवं रंगमंच की उन सामान्य विशेषताओं को ग्रहण किया जिनके आधार पर उन्हें नाट्यशास्त्र रचना था।[2] इसलिए वे नाटक और रंगमंच को साथ लेकर चलते हैं और जब 'ड्रामा' की बात करते हैं तो इनके अन्तर्गत 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' से भड़ैती के अनुकरणात्मक प्रयोग तक को स्थान देते हैं तथा किसी नाटककार द्वारा रचित नाट्यकथा के किसी नाट्य प्रयोग द्वारा मंचीय प्रस्तुति तक के समस्त व्यापार की एक अन्तःगठित प्रक्रिया के रूप में नाटक को स्वीकार करते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि नाट्य-रचना और नाट्य प्रस्तुति को अलग करके नहीं देखा जा सकता और उनके नाट्यशास्त्र का वही सैद्धान्तिक आधार भी है। फिर भी जब वे नाट्यसमीक्षा की बात करते हैं तो स्पष्ट निर्देश देते हैं कि नाट्य समीक्षा हमेशा दो दृष्टि से की जानी चाहिए। नाट्य रचना की दृष्टि से और नाट्य प्रयोग की दृष्टि से। इस प्रकार

१. अभिनव नाट्यशास्त्र, पं० सीताराम चतुर्वेदी, किताब महल इलाहाबाद, १९६४, पृ० ६५१ से ६५९, विशेषकर पृ० ६५७

२. भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, पं० सीताराम चतुर्वेदी, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उ० प्र०, लखनऊ, १९६४, पृ० ४१ एवं पृ० ७८१ से ७९२

नाट्यालोचन का रूप और आकार एक ही रहेगा लेकिन इस प्रकार के नाट्यालोचन में दृष्टि दो काम कर रही होगी। मेरी अपनी समझ में नाट्यालोचन का यह सर्वाधिक समन्वित रूप है जिसमें नाटक की सैद्धान्तिक आलोचना उसके काव्यरूप को लेकर और उसकी व्यावहारिक अर्थात् मंचीय आलोचना नाटकों के व्यावहारिक पक्ष को लेकर प्रस्तुत की जायगी। यहाँ आवश्यक नहीं रह जाता कि काव्यालोचन और रंगशाला-आलोचना के रूप में नाट्यालोचन की दो शाखाओं को विकसित करने या स्थापित करने की बात सोची जाये। नाट्यालोचन पर यह एक संग्रह-दृष्टि है।

जब नाट्य रचना की स्वीकृत परम्परा को छोड़कर नाटक लिखे जा रहे हों तो उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना भी आलोचना की स्वीकृत परम्परा के आधार पर नहीं की जा सकती। नये नाटकों में शैली, मिश्र एवं कथ्य के इतने प्रयोग हुए हैं कि नाट्य रचना के पारम्परिक सिद्धान्तों के बन्धन स्वतः टूट गये हैं। नये नाटक कहे जाने वाले नवीनतम कतिपय लघु नाटकों में रस सिद्धान्त का निषेध एवं दृश्य-अंक योजना का बहिष्कार किया गया है। लोटन को विपिन कुमार एण्टीनाटक कहते हैं। 'अमृत युग' एवं 'रोशनी एक नदी है' जैसे नाटक रस निषेधपरक नाटक हैं। इस स्थिति में नाट्यालोचन की बागडोर यदि नाटककार-आलोचकों के हाथ में छोड़ दी जाय तो रसवादी पारम्परिक नाटक और रस विरोधी नये नाटकों में एक प्रकट संघर्ष की नींव पड़ जायगी। इसलिए एक तटस्थ निस्संग आलोचक दृष्टि का अंकुश अनिवार्य हो जाता है जिसके समक्ष नये नाटकों की उपलब्धियाँ भी हैं और पारस्परिक नाट्य साहित्य भी। वह न तो पारस्परिक मूल्यवान की दृष्टि से नये नाटकों को जाँच-परख सकता है और न नयी आलोचना दृष्टि से पारम्परिक नाटकों को। परम्परा की लीक से हटे नये नाटकों को पहचानने-परखने के लिए उसे नाट्यालोचन के नये प्रतिमान गढ़ने होंगे। भूपेन्द्र कल की आलोचना की एक ऐसी ही तटस्थ और निस्संग दृष्टि का परिचय देते हैं जब वे नाट्यालोचन के नये प्रतिमान गढ़ते हुए स्वीकार करते हैं कि नाटक के कृतित्व पक्ष की बदलती हुई मान्यताएँ बाध्य करती हैं कि उन्हें नाट्यशास्त्रीय भावभूमि की अपेक्षा रंगमंच की कलात्मक और वैज्ञानिक भावभूमि पर आँका जाय। पारम्परिक मूल्य के चौखट में भुवनेश्वर, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विपिन कुमार अग्रवाल और सत्यव्रत सिन्हा जैसे नाटककारों की नाट्यकृतियों की आलोचना-प्रत्यालोचना अन्याय ही नहीं हास्यास्पद भी होगी। चूँकि आज के नाटकों में घटनाओं, संयोगों और कथाओं का आधार नहीं लिया जाता बल्कि जीवन प्रक्रिया के बीच सूक्ष्म संवेदना के तत्त्वों पर आघात करते हुए एक सम्पूर्ण अनुभव से स्वतः गुजरने का नाटक हो जाता है और इसी 'विसदृश्यता' में अपनी रचनात्मक सार्थकता को प्राप्त करता है। इसलिए आज के नाटकों में यह सिद्धान्त पीछे छूट गया है, और इसके लिए अंकों एवं दृष्टि योजनाओं का बंधन अनिवार्य नहीं रह गया है।[1]

---

१. कल्पना (मासिक हैदराबाद, जून, ७४, अंक सं० २६५, भूपेन्द्र कलशी का लेख नाट्यालोचन के नये प्रतिमान, पृ० ४०

आधुनिक नाट्यालोचन, नाट्यालोचन को पूरी रंगप्रक्रिया से जोड़कर देखता है। दूसरे शब्दों में, आधुनिक नाट्यालोचन में रंग व्यवहार्यता की दृष्टि आयी है। वह दृष्टि अपने परिष्कृत रूप में डा० दुर्गा दीक्षित में निखरी है।[१] वे नाट्य विधा की अनिवार्य शर्त और अन्तिम परिणति दृश्यत्व में मानती हैं, जिसमें पठनीयता भी होती है। इसलिए इसका उपयोग दुहरा होता है। दूसरे शब्दों में वे नाटक के दो स्तर स्वीकार करती हैं—पठनीयता और दृश्यत्व। अपने इस द्विस्तरीय विवेचन को पूरी रंग प्रक्रिया पर घटाकर वह सिद्ध करती है कि नाट्यानुभूति अपने समस्त रूप में द्विस्तरीय होती है। नाटककार सृजन के क्षणों में अपनी कथ्य योजना और उसकी रंगमंचीय प्रस्तुति की उपयोगिता पर एक साथ सोचता है, अभिनेता अपने व्यक्तित्व और अभिनय चरित्र के बीच समन्वय रखता है, दर्शक वास्तविक और जगत मंचीय उपस्थिति के भ्रम को एक साथ स्वीकार करता है, निर्देशक को नाटककार की नाट्यानुभूति के प्रति भी उतना ही ईमानदार रहना पड़ता है जितना रंगमंच और प्रस्तुति के प्रति। इस प्रकार नाट्य सृजन और नाट्य प्रस्तुति दोनों की प्रक्रिया और नाट्यानुभूति द्विस्तरीय होती है। डा० कुमार विमल भी कुछ ऐसी ही बात कहते हैं जब वे स्वीकार करते हैं कि दृश्य काव्य के श्रव्य रूप को भी आलोचक की दृष्टि में महत्त्व मिलना चाहिए।[२] एक आलोचक को किसी नाटक के रंगमंचीय पक्षों के अलावा उसके पाठ्य रूप में छिपे हुए काव्यगत सौन्दर्य को भी उद्घाटित करना चाहिए तथा यह देखना चाहिए कि एक कलाकृति के रूप में उसमें कितनी सहोदरा कलाएँ (Sister Arts) समाविष्ट हो पायी हैं। डा० विमल आलोचना से सम्बद्ध हैं, नाट्यालोचन से नहीं, फिर भी उन्होंने एक नयी बात कही है कि दृश्य काव्य के श्रव्य रूप की आलोचना किस प्रकार होनी चाहिए, शेष चर्चाएँ तो पिष्टपेषण मात्र हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि आधुनिक नाट्यालोचन नाट्य की सर्जनात्मक और प्रस्तुत्यात्मक प्रक्रिया को अलग कर देखता है, इसलिए वर्तमान नाट्य समीक्षा के भी दो रूप उपलब्ध हैं। एक नाट्य समीक्षा में नाट्य कृति की सर्जनात्मक धरातल पर की गई समीक्षा मिलती है तो दूसरी में नाटक के प्रस्तुति पक्ष की समीक्षा होती है। पहली प्रकार की समीक्षा का रूप विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित नाटकों के काव्यगत मूल्यांकन के रूप में विभिन्न विचारप्रधान लेखों और पुस्तक समीक्षाओं में मिलता है तो दूसरी प्रकार की समीक्षा रंगमंच से सम्बद्ध पत्र-पत्रिकाओं में विकसित हो रही है जिसमें किसी नाटक की मंचीय उपलब्धि की संभावनाओं की चर्चा प्रमुख रहती है। हाल की नाट्य समीक्षाओं को देखकर यह आभास मिलने लगा है कि कृति की नाट्य समीक्षा प्रस्तुति पक्ष को और प्रस्तुति की नाट्य समीक्षा नाट्य कृति को

---

१. नाटक और नाट्य शैलियाँ, डा० दुर्गा दीक्षित, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद, १९७५, नाटक शीर्षक अध्याय, पृ० ९-४३ से पठनीय।

२. नयी कविता नयी आलोचना और कला, कुमार विमल, भारती भवन प्रा० लि०, पटना-४-१९६३, नयी आलोचना अध्याय, पृ० ४७

धीरे-धीरे स्वायत्त करती जा रही है। संभव है शीघ्र ही दोनों मिलकर नवीन नाट्य-समीक्षा शैली का निर्माण कर लें। प्रमाण के लिए पत्रिकाओं में प्रकाशित नाटकों की समीक्षाएँ देखी जा सकती हैं, जो नाट्य समीक्षा की इस नयी उपलब्धि को स्पष्ट करने में समर्थ हैं।[1]

दूसरी ओर 'दिनमान' एवं 'धर्मयुग' आदि पत्रिकाओं में विभिन्न नाट्य प्रस्तुतियों की समीक्षाएँ आ रही हैं, जिनमें प्रस्तुति पक्ष की समीक्षा के साथ-साथ रचनात्मक पक्ष की समीक्षा भी प्रस्तुत की गयी है। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए मैं एकदम ताजा प्रमाण के रूप में दिनमान में प्रस्तुत लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' की प्रस्तुति समीक्षा का संदर्भ देना चाहूँगा।[2] स्पष्टतः इस समीक्षा के दो भाग हैं जिसके पूर्वार्द्ध में नाटक का एक नाट्य कृति के रूप में मूल्यांकन किया गया है तो उत्तरार्द्ध में प्रस्तुति के आधार पर इसी नाटक की प्रस्तुति की रंगशाला-समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। मैंने इस समीक्षा का उदाहरण इस दृष्टि से दिया कि वह प्रस्तुति की प्रकाशित उत्कृष्ट समीक्षा ही नहीं है, अन्य कई नाट्य समीक्षाओं की तुलना में यह कृति पक्ष और प्रस्तुति पक्ष को समन्वित करने वाली समीक्षा-शैली का अत्यधिक पुष्ट उदाहरण है।

समकालीन नवीन चेतनाओं को अपने में समेटे आधुनिक नाट्यालोचन एक सिरे पर जहाँ इस सत्य से जुड़ा है कि साहित्य रूप होने के नाते रचनात्मक दृष्टि से किसी भी नाट्यकृति का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है और शेष नाट्यकृति के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह मंचीय दृष्टि से सफल हो जैसे प्रसाद के नाटक, वहाँ दूसरी ओर आधुनिक नाट्यालोचन इस तथ्य से भी जुड़ा है कि प्रत्येक नाट्यकृति अपनी प्रस्तुति में नए व्यक्तित्व पाती है, अपनी हर नयी प्रस्तुति में नयी स्वायत्तता प्राप्त करती है और दो प्रदर्शन आपस में समानता रखें यह आवश्यक नहीं होता। 'हयवदन' नाटक का प्रदर्शन कारन्थ के निर्देशन में राजकन्द्र नाथ ने देखा तो उन्हें वह कुछ और लगा जब उन्होंने स्वयं 'हयवदन' को प्रस्तुत किया।[3] नाट्य कृति की प्रस्तुति पक्ष से प्रस्तुत की गयी आलोचना का सर्वथा स्पष्ट रूप डा० जगदीश शर्मा प्रस्तुत करते हैं जब वे मोहन राकेश की रंग-सृष्टि[4] पर विचार करते हैं। डा० शर्मा के अनुसार हिन्दी रंगमंच के विकास का क्रम भी वही है जो राकेश के नाटकों का।

---

१. समीक्षा पटना-१६, के पिछले वर्षों के नाटक समीक्षा अंक तथा "प्रकर' (दिल्ली-७) की नाट्य समीक्षाएँ।

२. दिनमान (सा०) दिल्ली, ३० नव० १९७५ अंक, पृ० ४१

३. हयवदन, गिरीश करनाडा अनु० व० ब० कारंथ (राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-६, १९७५, निदेशक का वक्तव्य, पृ० ६

४. मोहन राकेश की रंगसृष्टि, डा० जगदीश शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली-६, १९७५, लेखक का वक्तव्य तथा पूर्वापर, पृ० ९-१२

डा० शर्मा यह मानते हैं कि नाटकों के विकास के साथ ही यह स्पष्ट हो गया कि नाटकों की आलोचना पाठ्य-पुस्तक के रूप में नहीं होनी चाहिए। लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि नाटक केवल रंग आलोचना से जुड़कर रह गया। नाट्यालोचन के रूप में नाट्य प्रस्तुति की समीक्षा ही विकसित हुई। नाट्य कृति की समीक्षा भी नाट्य प्रस्तुति की समीक्षा बन गयी। शर्मा जी इसे अतिवादी निष्कर्ष के रूप में स्वीकार करते हैं। डा० शर्मा के अनुसार एक ही नाटक प्रस्तुति की पृथकता से पृथक् कृति बन जाती है। इसलिए अगर नाट्य समीक्षा का आधार प्रस्तुति को बना लिया जाय तो प्रस्तुति की विभिन्नता से नाट्य समीक्षा भी भिन्न हो जायगी और इस स्थिति में आलोचना का कोई आदर्श प्रतिमान कभी भी निर्धारित किया जा सकता है। डा० शर्मा इसलिए नाटक की दुहरी स्वायत्तता स्वीकार करते हैं जिसकी चर्चा डा० दुर्गा ने भी की है। अर्थात् नाटक की स्वायत्तता एक स्तर पर वहाँ है जहाँ यह एक लिखित काव्य कृति है, एक विशिष्ट साहित्य रूप है। दूसरे स्तर पर वही नाटक मंचीय प्रस्तुति में अपनी पृथक् स्वायत्तता पाता है। इसलिए डा० शर्मा भी नाट्य समीक्षा के दो रूप स्वीकार करते हैं—एक स्तर पर वही नाट्य समीक्षा काव्य-कृति की समीक्षा होती है तो दूसरे स्तर पर अभिनेता कृति की। डा० शर्मा के अनुसार दोनों के रूप इतने भिन्न हैं कि दोनों कभी भी एक-दूसरे का स्थान नहीं ले सकतीं। नाट्यालोचन के क्षेत्र में डा० शर्मा की स्थापना वास्तव में कुछ नवीनता का आकर्षण रखती है लेकिन नाट्य समीक्षा चाहे वह कृति की हो या चाहे प्रस्तुति की, रंग चेतना से अलग नहीं हो सकती क्योंकि काव्य कृति होने के नाते नाट्य समीक्षा करते हुए उसके अभिनय और उसकी मंचीय प्रस्तुति की कल्पना समीक्षक के मन में बराबर बनी रहती है। इसलिए यह समीक्षक का दायित्व हो जाता है कि वह रंगमंच पर प्रस्तुत किसी नाटक के कलात्मक उत्कर्ष की क्षमताओं की खोज करे।

समकालीन नाट्यालोचन के क्षेत्र में डा० निर्मला जैन के विचार नवीनतम हैं जो नाट्यालोचन की एक संस्कृत शैली की ओर इंगित करती हैं।[1] सर्वप्रथम वे अपनी आपत्ति प्रस्तुत करती हैं कि आलोचना की एक सुस्पष्ट पूर्व निर्धारित धारणा रही है तब भी शोध, इतिहास, सौन्दर्यशास्त्र, काव्य सिद्धान्त आदि को आलोचना के क्षेत्र में स्वीकृत किया जाता रहा है। यह अनुचित है। आलोचना का सही संदर्भ रचना से जुड़ा है, इसलिए समकालीन रचना साहित्य की समीक्षा आलोचना की पहली जिम्मेदारी होनी चाहिए। स्पष्टतः समकालीन रचना-साहित्य की आलोचना में पुस्तक-समीक्षाओं का महत्त्व है। पुस्तक-समीक्षाओं द्वारा किये गये कृतियों के साहित्यिक मूल्यांकन से ही आलोचना के सामान्य सिद्धान्तों और प्रतिमानों का निर्माण होता है। निष्कर्ष रूप में वे बतलाती हैं कि आज की पत्र-पत्रिकाओं में नाट्य समीक्षा का विकास

---

१. हिन्दी आलोचना २०वीं शताब्दी, डा० निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६, १९७५, लेखकीय वक्तव्य एवं नाट्य समीक्षा अध्याय, पृ० ८४ से ८६।

हो रहा है और इसमें विचारणीय विषय नाटक नहीं होता, विचारणीय विषय होता है नाटकों की रंगमंचीय प्रस्तुति। दूसरी ओर रूपक रहस्य की परम्परा आज भी, शास्त्रीय अध्ययन के रूप में जीवित है लेकिन रंगमंच के व्यावहारिक ज्ञान से रहित इस प्रकार की विशाल पोथियों को कहाँ तक नाट्य समीक्षा कहा जा सकता है, यह विचारणीय हो उठता है। यह ठीक है कि आलोचना और पुस्तक समीक्षा में गंभीर सम्बन्ध रहा है लेकिन नाटक एक स्वतन्त्र काव्य विधा भी है, इसलिए काव्यालोचन का विषय भी, जिसमें काव्य के रूप में उसके विभिन्न पक्षों के सौन्दर्य का उद्घाटन आलोचक का इष्ट होता है। नाट्य समीक्षा के रूप में केवल नाट्य प्रस्तुति की समीक्षा से नाट्यालोचन के किसी स्थायी मान-मूल्य के निर्धारण की आशा नहीं की जा सकती। इसका एकमात्र उपाय यही है कि नाट्य समीक्षा के रूप में जिन नाटकों की पुस्तक-समीक्षा लिखी जाय उनमें नाटक के काव्य रूप एवं प्रस्तुति पक्ष दोनों को सम्मिलित किया जाय। इस प्रकार की समीक्षा करने में व्यावहारिक कठिनाई यह है कि नाटक का प्रकाशित काव्य रूप को प्रायः सुलभ रहता है। अतः प्रकाशित नाटकों की पुस्तक-समीक्षा आसानी से हो सकती है। लेकिन सभी नाटकों का मंचन नहीं होता या फिर कभी-कभी कहीं-कहीं होता है जिनकी प्रस्तुति समीक्षा अलग समय में लिखी जायगी। अतः पुस्तक समीक्षा में प्रस्तुति समीक्षा का समावेश क्वचित दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुति समीक्षा का सम्बन्ध अभिनय, मंचशिल्प आदि से अधिक होता है और प्रस्तुति की समीक्षा करते समय नाटक का काव्य रूप निश्चित रूप से गौण रहता है। इसलिए यह संभव है कि समीक्षक नाटक की पुस्तक-समीक्षा लिखता हुआ उसे अपने मन के मंच पर अभिनीत होता हुआ कल्पित करे और तब उसकी समीक्षा लिखे। यहाँ इस बात की संभावना है कि विभिन्न समीक्षकों की कल्पना भिन्न होगी और हम किसी एक निष्कर्ष पर शीघ्र नहीं पहुँच सकेंगे। इसलिए नाट्यालोचन और नाट्यालोचन के मूल्यांकन निर्धारण हेतु केवल पुस्तक समीक्षाओं पर निर्भर नहीं रहा जा सकता, 'प्रस्तुति समीक्षा' एवं स्वतंत्र आलोचना ग्रन्थ पर भी निर्भर करना पड़ेगा।

आधुनिक नाट्यालोचन के वर्तमान स्वरूप पर प्रस्तुत विहंगम दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक नाट्यालोचन में शैली एवं दृष्टिकोणों का वैविध्य है। इस वैविध्य के रहते हुए भी आज का नाट्यालोचन नाटक के काव्य पक्ष और प्रस्तुति पक्ष के समन्वय की ओर अग्रसर है। कुछ आलोचक अपना सैद्धान्तिक मतभेद रखते हैं और मतभेद के चलते या तो कहीं नाट्यालोचन को काव्यालोचन से सम्बद्ध कर देखा जाता है या रंगशाला से। लेकिन आलोचकों का एक नया वर्ग भी तैयार हो रहा है जो नाट्यालोचन को उसके विशद् अर्थ में स्वीकृत करता है तथा नाट्यालोचन के लिए काव्य पक्ष एवं प्रस्तुति पक्ष के समन्वय पर बल देता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि आधुनिक नाट्यालोचन में और नाट्यालोचन की आधुनिक दृष्टि में अब एक समग्रता का बोध आने लगा है। वर्तमान नाट्यालोचन में आज से १०-१५

वर्ष पूर्व का वह बिखराव नहीं रह गया है और न वैसी परिस्थितियाँ ही शेष हैं। आधुनिक नाट्यालोचन हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में सर्वथा नव-विकसित आलोचना है जबकि इसकी परम्परा सर्वाधिक प्राचीन रही है। अपने विगत १०-१५ वर्षों की यात्रा के दौरान आधुनिक नाट्यालोचन जिन सूक्ष्मताओं से होकर गुजरा है उससे किसी उन्नत भविष्य की ही सम्भावना जगती है।

नाट्य-समीक्षा के विकास में पत्रिकाओं की भूमिका

नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में आज जो नवजागरण आया है; उससे आज की नाट्य-समीक्षा भी सक्रिय और सजग हुई है। आज एक ओर व्यापक सन्दर्भ में वर्तमान हिन्दी नाटक को समझाने की चेष्टा होने लगी है तो दूसरी ओर अपने नाट्येतिहास की बिखरी हुई शृंखला को जोड़कर परम्परा को सुदीर्घ और सुपुष्ट सिद्ध करने की कोशिशें भी जारी हैं। यह परिवर्तन केवल नाट्य-जगत में ही नहीं, साहित्य की प्रत्येक विधा में परिलक्षित हो रहा है। हाँ, इतना अवश्य है कि अन्य साहित्यिक विधाओं से कहीं अधिक परिवर्तन नाट्य-जगत में हुए हैं। आज के नाटक और रंगमंच तथा कल के नाटक और रंगमंच में जमीन-आसमान का फर्क आ गया है। कारण क्या है? इसका मूल कारण है हमारे व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक मूल्यों में होने वाला अप्रत्याशित परिवर्तन। आज सारी परम्पराएँ टूटती जा रही हैं, सारे पुराने मूल्य समाप्त होते जा रहे हैं और पुरानी परम्पराओं के टूटने की आवाजें साफ सुनाई पड़ने लगी हैं। पोंगा पंथी, झूठी मर्यादाएँ, कृत्रिम और आडम्बरपूर्ण जीवन का खोखलापन उजागर होते जा रहे हैं और मृतप्राय प्राचीन समाज-व्यवस्था के साथ-साथ स्वयं भी समाप्त होते जा रहे हैं। आज समाजवादी विचारों की विजयदुन्दुभी का भैरव स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ने लगा है। नये सिद्धान्तों के आधार पर नये समाज की खोज आज एक ज्वलन्त समस्या है। नयी नाट्य-समीक्षा और नये नाटकों का जन्म इसी खोज की कोशिश से जुड़ा हुआ है।

मशीनी सभ्यता के विकास ने हमारे जीवन में यान्त्रिकता भर दी है। पुराने के पीठ पर पनपने वाली नयी संस्कृति ने समाज में अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न कर दी हैं। आज आम आदमी की जिन्दगी अपने यथार्थ रूप में उभरकर सामने आने लगी है। उसे दुहरा जीवन पसन्द नहीं। कृत्रिमता की खोल ने उसकी चेतना को कुण्ठित कर दिया था। झूठी मर्यादा ने घुटन के माहौल में उसे बेदम कर दिया था। आज वह अपने असली रूप में जिन्दगी की लड़ाई लड़ने के लिए कमर कसकर तैयार है। समकालीन साहित्य इस चेतना से प्रभावित हुआ है और आम आदमी से जुड़े एकमात्र सीधे माध्यम नाटक पर भी यह प्रभाव अपनी छाप छोड़ गया है। इसलिए आज का नाटक सामाजिक जीवन के अन्तर्विरोधों और मूल्यहीनता से उपजी सामाजिक

मान्यताओं का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करता है तथा वास्तविकता पर आधारित आम आदमी के जीने का रास्ता साफ करने के लिए खबरदार करता है। यह परिवर्तन केवल विषय की दृष्टि से ही नहीं, शैली और शिल्प की दृष्टि से भी हुआ है और खूब हुआ है। आज पाठ्य नाटक और रंग नाटक जैसे भेद समाप्त हो चुके हैं—विभाजक रेखा अब मिट चुकी है। अत: आज जो भी नाटक लिखे जाते हैं वे केवल रंगमंच को दृष्टि में रखकर ही लिखे जाते हैं। नाटक और रंगमंच आज एक दूसरे के पर्याय बन गए हैं। समकालीन नाटककारों के साथ-साथ आज के नाट्य-समीक्षा की दृष्टि में भी आमूल परिवर्तन हुआ है। अभी हाल तक हम अपनी अविकसित नाट्य-समीक्षा को ही अपनी थाती बनाए रहे। यहाँ तक कि संस्कृत नाट्य-शास्त्र से प्राप्त धारणाओं का भी समुचित विकास नहीं हो सका। परन्तु नाट्य-समीक्षकों की नयी चेतना और नयी दृष्टि ने इसे अल्पकाल में ही इतना विकसित किया कि नाट्य-समीक्षा जगत में सहसा एक नवजागरण, एक आन्दोलन-सा आ गया। नाट्य-समीक्षा को विकास के इस बिन्दु तक पहुँचाने के क्रम में पत्र-पत्रिकाओं ने जो बहुमूल्य योगदान दिया है उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि नवविकसित नाट्य-समीक्षा के विकास में पत्रकारिता जगत की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रही है—इन्होंने जनमत को परिष्कृत, परिमार्जित और रुचिसम्पन्न ही नहीं बनाया नयी नाट्य-समीक्षाओं को सामने आने के लिए खड़े होने के लिए जमीन भी दी।

आज से कुछ वर्ष पूर्व तक रंगमंच को केवल मनोरंजन का साधन भर समझा जाता रहा। कला-मूल्यों और जीवन के साथ उसे सम्बद्ध कर देखने की दृष्टि पूर्ण कहीं नहीं थी। रंगमंच का भी उद्देश्य उन दिनों येनकेन प्रकारेण दर्शक-दीर्घा में बैठे लोगों के मन को फिर आने लायक स्थिति तक प्रसन्न करने की कोशिश में मूल्यहीनता की ओर ही अग्रसर होता रहा। लेकिन नयी चेतना ने इस मूल्यहीन परम्परा को तोड़ा और रंगमंच को जीवनमूल्यों से सम्बद्ध किया। फलस्वरूप हर नाटक के प्रदर्शन की दृश्यात्मक समीक्षा होने लगी। इन समीक्षाओं को दैनिक पत्रों में स्थान दिया जाने लगा और दर्शकों की रुचि धीरे-धीरे अखबारों से अपने अनुकूल रंग प्रदर्शनों की खोज करने लगी। दर्शकों की रुचि का प्रभाव इस प्रकार पत्रकारिता के माध्यम से रंग-प्रदर्शनों से जुड़ने लगा। समय-समय पर धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान आदि सांस्कृतिक रुचि की पत्रिकाओं में भी प्रदर्शनों पर टिप्पणियाँ प्रकाशित की जाने लगीं। परन्तु हिन्दी नाट्य-समीक्षा का सर्वाधिक विकास हुआ **'श्री नेमिचन्द्र जैन'** द्वारा सम्पादित त्रैमासिक पत्रिका **'नटरंग'** द्वारा। 'नटरंग' के अंकों में नाट्य-रचनाओं के अतिरिक्त देश की विभिन्न नाट्य-संस्थाओं द्वारा प्रदर्शित नाटकों की समीक्षाएँ—विधा के विशेषज्ञ समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत की जाने लगीं। देश के विभिन्न नगरों में आयोजित नाट्य प्रशिक्षण शिविरों के अनुभव और विवरणों ने भी नाट्य-जगत से सम्बद्ध लोगों को विचार-विश्लेषण के लिए गम्भीर सामग्री प्रदान की। 'नटरंग' में प्रकाशित इन समीक्षाओं में नाट्य-रचना, निर्देशन, अभिनय और प्रस्तुतीकरण

तन्त्र आदि भी विचार किया जाता। नाट्य-समीक्षा जगत के लिए इस प्रकार की सामग्री केवल एक नयी पहल ही नहीं विचारोत्तेजक भी थी। इस पत्रिका के 'टीका टिप्पणी' स्तम्भ के अन्तर्गत विभिन्न नाटकों की अभिनेयता तथा रंगमंच सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री भी सामने आई हैं। 'रंगजगत' स्तम्भ कुछ विशेष नाटकों के प्रदर्शन की समीक्षाएँ प्रस्तुत करता है। स्वयं नेमिचन्द्र जी दिल्ली की रंगचेतना पर अक्सर गम्भीर टिप्पणियाँ प्रस्तुत करते रहे हैं। 'नाटक डायरी' स्तम्भ के अन्तर्गत देश के विभिन्न भागों में मंचित नाटकों की सूचनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। इस प्रकार यह पत्रिका अब तक नाटक की सर्वांगीण प्रस्तुति के लिए कृतसंकल्प है। नाट्य-समीक्षाओं में रंगमंचीय सन्दर्भों को 'नटरंग' के माध्यम से ही सार्थकता प्राप्त हुई है—इसमें सन्देह नहीं। नाटक और रंगमंच के लिए ही 'नटरंग समर्पित है।'

'नटरंग' की ही भाँति राजस्थान संगीत नाटक अकादमी की ओर से **'रंगयोग'** नाम से एक त्रैमासिक केवल नाटक और रंगमंचीय सन्दर्भ के साथ प्रकाशित होती है। पिछले आठ वर्षों से इस पत्रिका ने भारतीय रंग-चेतना को प्रतिनिधित्व देने की गम्भीर भूमिका निभाई है। अकादमी के विधानों के अनुसार अब तक इसके कई सम्पादक हो चुके हैं, सम्प्रति सुधा राजहंस द्वारा इस पत्रिका का संपादन किया जा रहा है। नाट्य-समीक्षा के विकास में इस पत्रिका की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। युगानुरूप नाट्य-कृतियों के आलेखों के प्रकाशन के अतिरिक्त उच्चकोटि के समीक्षात्मक लेख इस पत्रिका की विशेषताएँ रही हैं। भारतीय नाट्य-परम्परा, लोक रंगमंच और विशेषत: राजस्थानी लोक-नाट्य आदि से सम्बन्धित नई एवं उपयोगी सामग्री भी यह पत्रिका प्रस्तुत करती रही है। राजस्थान की रंगमंचीय गतिविधि का ब्यौरा भी इस पत्रिका के अंकों का आकर्षण रहा है। भारतीय रंगमंच को समर्पित इस रंग-पत्रिका का महत्त्व भी नाट्य-समीक्षा के विकास में कम नहीं आँका जाएगा। **'रंगायन'** नाम से भारतीय लोककला मंडल, उदयपुर द्वारा एक छोटी-सी मासिक पत्रिका **डा० महेन्द्र मानावत** के सम्पादन में राजस्थान से ही प्रकाशित होती रही है। यह पत्रिका भी भारतीय लोककला और विशेषकर राजस्थानी लोक-कलाओं पर विलक्षण सामग्री प्रकाशित करने के लिए उल्लेखनीय है। भारतीय कठपुतली नाट्य के विषय में सर्वप्रथम और सर्वाधिक सामग्री रंगायन द्वारा ही प्रकाशित की गयी है। भारतीय लोककला मंडल ने देश-विदेश में भारतीय कठपुतली नाट्य को स्थापित करने का श्रेय पाया है, श्री देवीलाल सामर का इसमें विशेष योगदान रहा है। इस प्रकार 'रंगायन' का उल्लेख राजस्थानी लोक रंगमंच की कलात्मक एवं वैचारिक पृष्ठभूमि स्थापित करने के सन्दर्भ में आवश्यक हो उठता है।

इधर हाल में ही दो-तीन ऐसी रंग पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी हैं जिनकी चर्चा भी इस सन्दर्भ में आवश्यक है। उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी के तत्त्वावधान में **'छायानट'** नाम से एक त्रैमासिक पत्रिका प्रसिद्ध नाटककार मुद्राराक्षस के सम्पादन में प्रकाशित हुई है। इस पत्रिका का धरातल इस अर्थ में कुछ विस्तृत कहा

जायगा कि इसमें संगीत और नाटक दोनों ही विषयों पर सामग्री दी गयी है। प्रदर्शित नाटकों की समीक्षाएँ यहाँ भी हैं और रंगमंच एवं नाटक पर विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत गम्भीर चर्चाएँ भी जिनका असर आधुनिक नाट्यालोचन पर पड़ेगा ही। उदाहरण के लिए डा० सत्यव्रत सिन्हा का एब्सर्ड नाटकों पर प्रस्तुत निबन्ध हिन्दी के नाट्य-समीक्षकों को एब्सर्ड नाटकों की गहरी समझ प्रदान करेगा और हिन्दी में आ रहे एब्सर्ड नाटकों के मूल्यांकन की एक दृष्टि भी। कलकत्ते से इन दिनों दो रंग पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। कलकत्ते की प्रसिद्ध नाट्य-संस्था अनामिका की ओर से पहले 'नाटक' नाम से और बाद में **'नाट्य वार्त्ता'** नाम से एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन बहुचर्चित निर्देशक **विमल लाठ** के सम्पादन में प्रारम्भ हुआ। अब तक इसके १२-१३ अंक निकल चुके हैं। इस पत्रिका ने रंगमंच के इतिहास के छूटे हुए सन्दर्भों को प्रकाशित करने के अतिरिक्त विभिन्न मंचित नाटकों की समीक्षाओं के प्रकाशन को प्राथमिकता दे रखी है। रंगमंच के इतिहास लेखकों के लिए यह पत्रिका पूरक सामग्री तो प्रदान करेगी ही—इसका उल्लेख नाट्य-समीक्षा के विकास के सन्दर्भ में भी किया जाएगा। कलकत्ते से ही प्रकाशित होने वाली दूसरी पत्रिका है **श्री आत्मानन्द** के सम्पादन में प्रस्तुत 'अभिनय संवाद' मासिक यद्यपि इन दिनों इसका प्रकाशन अनियतकालीन हो गया है और अंक विलम्ब से आते हैं। इस पत्रिका में भी 'नटरंग' की भाँति देशव्यापी रंग-चेतना को प्रतिनिधित्व देती और मुख्यत: प्रदर्शित नाटकों की समीक्षाएँ प्रकाशित करती है। कुछ विचारपरक लेख भी रहते हैं।

'बाल रंगमंच' को एक स्वतन्त्र रंगमंचीय-विधा के रूप में स्वीकार करने की दिशा में भी इधर कई गम्भीर प्रयास हुए हैं। श्री बन्धु कुशावन्ती ने लखनऊ से एक स्वतन्त्र पत्रिका के रूप में **'बाल रंगमंच'** नाम से एक द्वैमासिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया है। अभी तो इस उनका व्यक्तिगत प्रयास है—पर वे सचेष्ट हैं कि इसे संस्थानिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। यह इस बात का तकाजा है कि भारतीय रंग चिन्तन अभी एक गम्भीर रंग-रूप पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाया है। हमें विश्वास है कि श्री बन्धु कुशावन्ती अपने इस गम्भीर प्रयास से बाल रंगमंच के महत्त्व, उपयोगिता, रंगशिल्प, रंग-दर्शन और स्वतन्त्र अस्तित्व के निर्माण की दिशा में अग्रसर' होंगे और इस प्रकार बाल रंगमंच को भी नाट्य-समीक्षा जगत से सम्बद्ध कर सकेंगे ताकि शीघ्र ही नाट्य-समीक्षा जगत में बाल रंगमंच एक स्वतन्त्र अध्ययन एवं विश्लेषण का विषय बन सके। 'नटरंग' ने काफी पहले एक-एक बालरंगमंच विशेषांक प्रकाशित कर इस दिशा में पहल की थी और अभी एकदम हाल में पुन: एक विशेषांक प्रस्तुत कर इसका महत्त्व स्थापित किया है और 'रंगयोग' ने भी पिछले दिनों एक गम्भीर तथा वृहत् निबन्ध प्रकाशित किया है— फिर भी बाल रंगमंच के विधागत स्वरूप के स्वतन्त्र अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा के लिए, पूर्ण विचार-विमर्श के लिए एक पृथक् एवं स्वतन्त्र रूप से समर्पित पत्रिका की भूमिका के महत्त्व से कोई इनकार नहीं करेगा। इस दिशा में 'बाल रंगमंच' का प्रकाशन एक स्वागतयोग्य और महत्त्वपूर्ण कदम स्वीकार किया जायगा। नाट्य-

समीक्षा में एक नये परिशिष्ट के जुटने की संभावना अब बीज रूप में इस पत्रिका के रूप में दृष्टिगत हो चुकी है ।

भारतेन्दु रंगमंचीय अध्ययन एवं अनुसंधान केन्द्र की ओर से ४-५ वर्ष पूर्व तक श्री शरद नागर और डा० अज्ञात के संयुक्त संपादन में **रंगभारती** नाम से एक मासिका पत्रिका का प्रकाशन होता रहा था । बीच में इसका प्रकाशन अवरुद्ध हो गया । अब फिर डा० अज्ञात ने निजी प्रयास से १९७७ के अंतिम चरण में इस पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया है और निकट भविष्य में वे 'हिन्दी रंगमंच १९७७' शीर्षक से एक विशेषांक प्रस्तुत करने वाले हैं । 'रंगभारती' का उल्लेख भी अन्य रंग और नाट्य-पत्रिकाओं की भाँति नाट्य-समीक्षा के सन्दर्भ में किया जायेगा क्योंकि परम्परागत शास्त्रीय शैली की नाट्य-समीक्षा में रंगमंचीय संस्कार करने की महत्त्व-पूर्ण भूमिका निभाने में इस पत्रिका का भी अपना योगदान रहा । **'कला मन्दिर'** ग्वालियर की नाट्य संस्था है और **'रंगमंच'** शीर्षक से प्रतिवर्ष यह संस्था एक भरा-पूरा अंक स्मारिका के रूप में प्रस्तुत करती है जिसमें नाटक और रंगमंच पर विचारपूर्ण लेखों के अतिरिक्त मुख्यत: प्रदर्शित नाटकों की समीक्षा रहती है । इसी प्रकार वाराणसी की संस्था श्री नाट्यम की ओर से भी **'श्री नाट्यम'** शीर्षक से पिछले १४-१५ वर्षों से प्रकाशित वार्षिकांक सामग्री की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ठहराए जाएँगे । इसमें निबन्धों की अधिकता रहती है—पर प्रस्तुति समीक्षाएँ भी रहती हैं । 'दिल्ली' जैसे महानगर में रंगमंचीय गतिविधि की सक्रियता-देश की राजधानी होने के कारण और भी अधिक है । ऐसी स्थिति में आनन्द गुप्त और जयदेव तनेजा के संयुक्त संपादन में अन्तर्देशीय पत्र के रूप में आगामी पखवारे में दिल्ली में होने वाले सभी प्रदर्शनों की पूर्वसूचना अखबारी शैली में अपना कुछ अगल महत्त्व रखते हैं । **'अभिनय'** के इन अंकों में पिछले प्रदर्शन पर छोट-छोटी टिप्पणियाँ भी होती हैं । छोटी होने पर भी 'अभिनय' की अपनी उपयोगिता है ।

यह तो हुई उन पत्रिकाओं की बात जो किसी न किसी रूप में नाटक और रंगमंच जगत को समर्पित पत्रिकाएँ हैं । इनसे अलग भी कुछ ऐसी पत्रिकाएँ हैं जो हैं तो साहित्यिक पत्रिकाएँ लेकिन नाट्य-समीक्षा के विकास में उनका भी कुछ न कुछ योगदान रहा है । पटना से डा० **गोपाल राय** के सम्पादन में प्रकाशित द्वैमासिक **'समीक्षा'** वस्तुत: समीक्षा-जगत को ही समर्पित पत्रिका है । इसी क्रम में नाट्य-समीक्षा के मानक उदाहरण प्रस्तुत करने का श्रेय इसे प्राप्त है । समीक्षा के हर अंक में किसी विधा-विशेष के वर्ष भर के प्रकाशित साहित्य की समीक्षा प्रस्तुत की जाती है और इसी क्रम में एक अंक नाटक समीक्षा का भी होता है । सारी समीक्षाएँ भारत के गिने-चुने नाट्य-समीक्षक प्रस्तुत करते हैं अत: समीक्षा का स्तर मानक होता है । इनके अतिरिक्त वर्ष भर के साहित्य को आधार बनाकर एक विशेष सर्वेक्षण लेख भी अलग-अलग साहि-त्यिक विधाओं पर दिए जाते हैं और इसी क्रम में नाट्य-समीक्षा की एक नई शैली 'हिन्दी नाटक' वर्ष…सर्वेक्षण लेख के रूप में विकसित हो रही है । 'समीक्षा' की नाट्य-

समीक्षाएँ अब सही अर्थों में नाट्य-समीक्षाएँ स्वीकार की जायेंगी क्योंकि इस समीक्षा का स्वरूप अब मानव समीक्षा के रूप में ढलता जा रहा है। इसी प्रकार की एक दूसरी पत्रिका है **श्री विद्यासागर विद्यालंकार** के सम्पादन में प्रकाशित मासिक पत्रिका **'प्रकर'** दिल्ली से प्रकाशित इस पत्रिका और 'समीक्षा' में अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ 'समीक्षा' का एक अंक ही नाटक समीक्षा अंक होता है वहाँ 'प्रकर' के हर अंक में सभी साहित्य विधाओं की कृतियों की समीक्षा एकसाथ प्रस्तुत की जाती है और इसी क्रम में नाटक समीक्षा भी। वर्ष भर की विभिन्न साहित्य-विधाओं पर विशेष लेख एक पृथक् अंक में 'प्रकर' भी प्रस्तुत करता है—लेकिन इस अर्थ में 'प्रकर' 'समीक्षा' से कुछ पिछड़ा हुआ है क्योंकि जहाँ 'समीक्षा' के आगामी अंक में अब 'हिन्दी नाटक १९७७' प्रकाशित होने वाला है वहाँ 'प्रकर' का '७२-'७३ का संयुक्तांक भी अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया है। नाट्य-समीक्षा के विकास क्रम के निरूपण में इतिहासकार 'समीक्षा' और 'प्रकर' की भूमिकाओं को नजरअन्दाज करके शायद आगे नहीं बढ़ पाएँगे।

'आलोचना' पत्रिका के द्वारा भी नाट्य-समीक्षा के विकास को संवर्द्धन प्राप्त हुआ है। इस त्रैमासिक पत्रिका में प्रकाशित समकालीन नाट्य-समीक्षकों के लेखों ने जहाँ एक ओर नाट्य-समीक्षा के सैद्धान्तिक चिन्तन को आगे बढ़ाया है वहीं दूसरी ओर कृति एवं कर्त्ताओं के मूल्यांकन की एक स्वस्थ परम्परा आगे बढ़ायी है। इन निबन्धों ने नाट्य-समीक्षा के विकास की एक लम्बी दूरी तय करने में मदद पहुँचाई है। यद्यपि यह पत्रिका सभी प्रकार के आलोचनात्मक निबन्ध प्रकाशित करती है तथापि हाल के चार-पाँच वर्षों के दौरान जो कुछ एक निबन्ध इसके विभिन्न अंकों (यथा नवांक २८, ३७, ४२ आदि) में प्रकाशित हुए हैं उसने नाट्य-समीक्षा के ज्वलन्त प्रश्नों को समसामयिकता के सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हुए उसका समाधान भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यही आज की विकसित नाट्य-समीक्षा है, कोई अन्य वस्तु नहीं। इसी प्रकार नई धारा (पटना), मधुमती (उदयपुर), साहित्य मण्डल (कोचीन), साक्षात्कार (भोपाल), कल्पना (हैदराबाद) आदि विभिन्न राज्यों से प्रकाशित पत्रिकाओं ने भी भरसक इस दिशा में अपना योगदान किया है। बदली हुई परिस्थितियों में नाट्य-समीक्षा के नये मानदण्डों के निर्धारण के प्रश्न पर डा० भूपेन्द्र कलसी का निबन्ध १९७४ में **कल्पना** में प्रकाशित सम्भवतः पहला निबन्ध है। भविष्य में नाट्य-समीक्षा किस प्रकार की हो इस दिशा में श्री नरनारायण राय का आलोचना ४२ में प्रकाशित निबन्ध अपने ढंग का नितान्त मौलिक प्रयास है। नाट्य-समीक्षा के नवगठित स्वरूप का विश्लेषण करने के क्रम में इन निबन्धों और इन पत्रिकाओं के सैद्धान्तिक अवदान का अपना पृथक् मूल्य है। समय-समय पर इस प्रकार के निबन्ध इन पत्र-पत्रिकाओं में जहाँ-तहाँ प्रकाशित होते रहे हैं जिससे नाट्य-समीक्षा के स्वरूपगत विकास का आभास मिलता है। **नया प्रतीक** (दिल्ली) का प्रकाशन अभी कुछ एक वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हुआ है पर इसमें भी समकालीन नाटक और रंगमंच पर कई एक महत्त्व-पूर्ण निबन्ध सामने आये हैं। कभीकभार **'आजकल'** (दिल्ली) मासिक में भी ऐसे

निबन्ध दिखाई पड़ जाते हैं लेकिन अब इसमें 'वातायन' स्तम्भ के अन्तर्गत प्रस्तुति समीक्षाएँ भी प्रकाशित होती हैं। इसी प्रकार की टिप्पणियाँ **'दिनमान'** (साप्ताहिक, दिल्ली) और **'रविवार'** (साप्ताहिक, कलकत्ता) में भी कभी-कभी दिखाई पड़ जाती हैं। हिन्दी नाट्येतिहास और नाट्यालोचन के विकास का इतिहास प्रस्तुत करने के क्रम में इन सन्दर्भों की उपयोगिता, है, इससे शायद ही किसी व्यक्ति को विरोध हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक और रंगमंच को जोड़ने में और उनके बीच की खाई को पाटने की दिशा में इन पत्र-पत्रिकाओं ने अनवरत प्रयत्न किया है। इन पत्र-पत्रिकाओं के अथक प्रयास का यह प्रतिफल है कि आज नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में ऐसा नवजागरण आया है कि विकास क्रम में दोनों ही अब अभिन्नता प्राप्त कर चुके हैं। समकालीन नाट्य-समीक्षा अब केवल प्रस्तुति समीक्षा या कृति समीक्षा न रहकर एक ऐसी समन्वित शैली के रूप में विकसित होने लगी है जिसमें दोनों ही पक्षों को समान और उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। इस प्रकार की समीक्षाओं का बहुलांश अभी तक पत्र-पत्रिकाओं में ही फैला-बिखरा है। इन समीक्षाओं का पुस्तकाकार संकलन नहीं हो पाया था। पर अब नाट्यालोचकों का ध्यान इस ओर भी गया है और पिछले दिनों एक वार्षिकी के रूप में नरनारायण राय जी ने 'हिन्दी नाटक और नाट्य-समीक्षा १९७४' के रूप में इस प्रकार का प्रयास प्रस्तुत किया है। इसके आगामी खण्डों के प्रकाशित होने पर पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से विकसित होने वाली आधुनिक हिन्दी नाट्य-समीक्षा के स्वरूप और विकास क्रम को शायद अधिक आसानी के साथ समझा जा सके। मैं इसे भी पत्र-पत्रिकाओं की प्रेरणा ही स्वीकार करता हूँ जिसके सुपरिणाम के रूप में इस प्रकार के प्रयास संभव हो पाये। नाट्य-ससीक्षा को यदि पत्रकारिता जगत की सहायता न मिली होती तो निश्चय ही इसका वर्तमान स्वरूप कुछ और होता और कम से कम आज की तरह स्पष्ट और सुविकसित नहीं होता। इस दृष्टि से आधुनिक नाट्य-समीक्षा पत्र-पत्रिकाओं के अमूल्य योगदान के प्रति चिरऋणी रहेगी। हिन्दी आलोचना के विकास का इतिहास भी यही सिद्ध करता है कि आलोचना जगत में जब भी प्रतिमानों का हेर-फेर हुआ है—बदलता हुआ मूल्य-बोध पत्रिकाओं के माध्यम से ही सर्वप्रथम अभिव्यक्ति पाता रहा है। हिन्दी नाट्य-समीक्षा के विकास में और मूल्य-मानों के परिवर्तन में पत्रिकाओं ने अपना वह उत्तरदायित्व निभाया है।

समकालीन नाट्य-समीक्षा : मूल्यांकन का संदर्भ

समकालीन नाट्य-साहित्य के साथ-साथ हिन्दी नाट्य-समीक्षा में एक परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव और आभास होने लगा था। आरम्भ में उसका रूप स्पष्ट नहीं था, पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों की भूमिकाओं, गोष्ठियों, चर्चाओं में नयी नाट्य-समीक्षा के सवाल बार-बार उठाए जा रहे थे और अन्ततः हिन्दी नाटक और हिन्दी रंगमंच में एक आन्दोलन के समारम्भ से नाटक को नितान्त मौलिक और जटिल विधा और कला के रूप में समझने-सोचने की दिशा पनपी जिसने नाटक को परखने के मानकों और कसौटियों पर प्रश्नचिन्ह लगाया। पिछले दस वर्षों में नाट्य-समीक्षा के स्वरूप पर अध्ययन, चिन्तन और पर्याप्त कार्य हुआ है। स्थिति अभी विचारणीय है और नाट्य-समीक्षा को ठोस आकार देने की अपेक्षा है क्योंकि यह तो तय है कि काव्य या कथा-समीक्षा की तुलना में नाट्य-समीक्षा अधिक उलझा हुआ, जटिल और दोहरे दायित्व को निभाने वाला कार्य है।

सवाल उठता है कि नाट्य-समीक्षा में शास्त्रीय पूर्वाग्रहों—धारणाओं से मुक्त होने की आवश्यकता क्यों महसूस हुई ? जिसका स्पष्ट उत्तर है रचना को शास्त्रीय सिद्धान्तों, वर्गों, फार्मूलों में न बाँधकर, टुकड़ों में न बाँटकर उसकी समग्रता में और उसकी विधात्मक मौलिकता या माध्यमगत सौन्दर्य में पहचानने, अनुभव करने की कोशिश। इसी दृष्टि से काव्य-समीक्षा और कथा-समीक्षा में तेजी से परिवर्तन हुए और उसके नये प्रतिमान भी अन्वेषित हुए; यही नहीं कुछ काव्य-समीक्षकों या कथा-समीक्षकों का स्वतंत्र, विशिष्ट व्यक्तित्व भी प्रतिष्ठित हुआ जिनके द्वारा स्थापित मूल्य या प्रतिमान कुछ अर्थ रखते हैं लेकिन नाट्य-समीक्षा के क्षेत्र में स्थिति ऐसी नहीं है। इस दिशा में निश्चय ही कार्य बड़ी देरी से और बड़ी मन्द गति से आरम्भ हुआ, शायद इसका मुख्य कारण नाट्यविधा का रंगमंच से जुड़ा होना है। अब भी नाट्य-समीक्षा काफी पीछे है। '५० के बाद से एक ओर नाट्य-रचना के मूल्य बदल रहे थे, दूसरी ओर रंगमंच एक सार्थक, सक्रिय, व्यापक जीवनानुभव का केन्द्रबिन्दु बन रहा था और इस तरह नाट्य-रचना और उसकी 'पुनर्रचना' यानी लेखन और प्रस्तुतीकरण की सारी प्रक्रिया के सहभागी होने की सुखद रचनात्मक स्थिति जन्म ले रही थी, तब भी समीक्षक की दृष्टि में कोई अन्तर विशेष नहीं आ सका। यह असम्भव था

कि वह नये नाटक की समीक्षा भी रंगमंच से अलग, मात्र शास्त्रीय दृष्टि से करे। 'मादा कैक्टस' या 'आषाढ़ का एक दिन' को रूढ़ दृष्टि से—अंक, दृश्य, विभाजन, संधि, अर्थ प्रकृति, कार्यावस्थाओं, कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद, भाषा-शैली, उद्देश्य, देश-काल और रंगमंचीय दृष्टि से स्थूल निष्कर्षों के आधार पर देखना सम्भव नहीं था और समीक्षक में प्रचलित ढाँचे से सर्वथा भिन्न दृष्टि से नाटक को समझने की सर्जनात्मक दृष्टि नहीं थी। नाट्य-प्रदर्शनों के साथ-साथ जिन रंग-समीक्षाओं बल्कि प्रस्तुति-विवरण या रिपोर्टों का छपना शुरू हुआ, उनमें भी एकांगी, सतही, स्थूल दृष्टि थी। रंगमंच के अर्थ, अपेक्षाएँ और नाट्यविधा की कलात्मकता की पहचान के बिना की गयी वे समीक्षाएँ मात्र सूचनाएँ होती थीं फलतः पारम्परिक रचना-शैली से भिन्न नये नाट्यरूपों, प्रयोगों, भाव-भूमि और उसके वैशिष्ट्य को समझाने का प्रयत्न स्वयं नाटककारों ने किया, बिलकुल वैसे ही जैसे छायावाद को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत और प्रतिष्ठित करने का दायित्व पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा ने सँभाला था जैसे नयी कहानी को भिन्न दृष्टि से देखने की दिशा पर मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव ने बार-बार बल दिया। जगदीशचन्द्र माथुर की भूमिकाओं, विशेषकर लक्ष्मी-नारायण लाल के 'रातरानी' नाटक की विस्तृत-सशक्त भूमिका से और मोहन राकेश के नाटकों की भूमिकाओं, टिप्पणियों से नाट्य-समीक्षा की नयी यात्रा का आरम्भ हुआ। 'लहरों के राजहंस' की लम्बी भूमिका में नाटक की रचना-प्रक्रिया और प्रस्तुतीकरण-प्रक्रिया के परस्पर अनिवार्य सम्बन्ध और उसके परिणामों का जो परिचय मिला, उसके प्रदर्शन पर या मात्र कृति पर होने वाली गोष्ठियों, बहसों से जो चेतना जागी उसने पुरानी समीक्षा-पद्धति को नकारकर नयी समीक्षा-पद्धति के संकेत अवश्य दिए। नये नाट्य-समीक्षक के रूप में नेमिचन्द्र जैन का नाम अवश्य उल्लेखनीय है जिनके लेखों, चर्चाओं, 'नटरंग' की सम्पादकीय टिप्पणियों और 'रंगदर्शन' पुस्तक से समकालीन नाट्य-समीक्षा ने एक आकार और चिन्तन-दिशा ग्रहण की। सुरेश अवस्थी के लेखों, लक्ष्मीनारायण लाल की समीक्षा-पुस्तकों से भी नाटक को रंगमंचीय संदर्भ में समीक्षित करने की दिशा विकसित हुई। और तब एक दौर ऐसा आया जब एक ओर मोहन राकेश के नाटकों पर विस्तृत समीक्षाएँ निकल रही थीं और दूसरी ओर प्रसाद और भुवनेश्वर के नाटकों की समीक्षा नये सिरे से शुरू हुई। जिस तरह गलत समीक्षा और हिन्दी रंगमंच के अभाव के कारण नाटक मात्र एक साहित्यिक कृति, एक पुस्तक बनकर रह गया और समीक्षकों-नाटककारों दोनों ने साहित्यिक नाटक और रंगमंचीय नाटक के हास्यास्पद वर्ग बनाकर साहित्यिक नाटक के लिए प्राचीन नाट्य-शास्त्र के मानदंडों को आवश्यक मान लिया और रंगमंच को एक हेय वस्तु; जिस तरह प्रसाद के नाटक वर्षों तक गलत समीक्षा के शिकार बने रहे और सिद्धान्त चर्चा एवं व्याख्यास्थलों के आधार बने रहे या जिस तरह सही समीक्षक के अभाव में भुवनेश्वर के नाटक उपेक्षित पड़े रहे, उसी तरह नयी नाट्य-समीक्षा और रंगमंच के विकास के साथ-साथ और जागरूक समीक्षक के दायित्व-बोध से प्रसाद के नाटकों का पुनर्मूल्यांक

बड़ी तेजी से हुआ और भुवनेश्वर का नाटककार व्यक्तित्व और उनके नाटक अपनी समग्र विशेषता और मौलिकता के साथ प्रतिष्ठित हुए। इन स्थितियों से समीक्षक के दायित्व का अन्दाजा लगाया जा सकता है। सिद्धनाथ कुमार, गोविन्द चातक, गिरीश रस्तोगी, जयदेव तनेजा, सत्येन्द्र तनेजा आदि ने बहुत तेजी और गम्भीरता से पिछले पाँच-सात वर्षों में नाट्य-समीक्षा के परिवर्तित नवीन स्वरूप को अपनी समीक्षा-पुस्तकों, लेखों, टिप्पणियों द्वारा प्रतिष्ठित किया है। नरनारायण राय, महेश आनन्द के विविध लेखों, समीक्षाओं से, डा० अज्ञात की समीक्षा-पुस्तकों से नयी समीक्षा-पद्धति के संकेत मिले हैं। डा० मान्धाता ओझा की 'हिन्दी नाट्य समालोचन' पुस्तक में रंगमंचीय संदर्भ में हिन्दी नाट्य-समीक्षा और नाट्य-सिद्धान्तों के अन्वेषण की कोशिश की गयी है। वस्तुतः नाटककार, रंगकर्मी और समीक्षक तीनों की सक्रियता और चिन्तन-दृष्टि से नाट्य-समीक्षा में नये प्रतिमानों के अन्वेषण की प्रक्रिया शुरू हुई है जो बहुत उपयुक्त कदम है लेकिन अभी यह प्रयत्न जारी है और किसी अन्तिम निर्णय तक हम नहीं पहुँच पाए हैं। इतना तो तय है कि नाट्य-समीक्षा को सार्थक, मूल्यपरक और सर्जनात्मक होना ही चाहिए।

समकालीन नाट्य-समीक्षा ने अपने को इस पूर्वाग्रह से मुक्त किया है कि नाटक कोई पाठ्य-पुस्तक मात्र नहीं है, वह एक जीवन्त अनुभव और संश्लिष्ट कलारूप है जिसे पूर्ण जीवन्तता और कलात्मकता रंगमंच पर मिलती है। नाट्यविधा की इस मौलिकता और निजी सत्ता की स्थापना भरतमुनि ने भी अपने नाट्य-शास्त्र में की थी और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी सामूहिक स्तर पर नाट्यान्दोलन, रंगान्दोलन हिन्दी नाट्यकला और नाट्य-समीक्षा के प्रति पूरी सतर्कता दिखायी थी और स्वयं भी वह सक्रिय थे लेकिन उनकी असामयिक मृत्यु से उनके प्रयत्न अधूरे रहे और उसके बाद रंगमंच के अभाव और भटकी हुई समीक्षा के कारण नाटक साहित्यिक कृत्रिमता, सोद्देश्यता, सिद्धान्त-चर्चा, शास्त्रीय धारणाओं और बौद्धिक जाल में फँसकर 'पाठ्य-क्रमीय' बनकर रह गया। भुवनेश्वर, जगदीशचन्द्र माथुर, उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों से नाट्य-समीक्षक की दृष्टि बदल सकती थी लेकिन इन नाटककारों के समय में न सामूहिक रंग-चेतना थी और न नाटककारों और समीक्षकों की जागरूकता जिससे हिन्दी नाटक का इतिहास वहीं का वहीं रुका रहा बल्कि सही मूल्यांकन के अभाव में पिछड़ा पड़ा रहा। सही मूल्यांकन का प्रयास नये नाटक के साथ ही हुआ। आश्चर्य है कि यह कार्य जितनी तेजी से होना चाहिए था, हुआ नहीं, नाटककार, रंगकर्मी, आलोचक को अपने बढ़ते दायित्व का एहसास अवश्य हुआ। बदले परिवेश में रचित नयी नाट्यरचनाओं के अध्ययन और मंचन से अधिक प्रासंगिक, प्रामाणिक और नयी आलोचना-पद्धति और नये सिद्धान्त-सूत्रों की खोज का आरम्भ जरूर हुआ। लेकिन यह सत्य भी उद्घाटित हुआ कि नाट्य-समीक्षा सरल कार्य नहीं है, वह नाट्य-रूप और उसकी प्रस्तुतिपरक कलाओं, पंच-पद्धतियों—दृश्यबन्ध, प्रकाश योजना, ध्वनि-व्यवस्था, रूप-सज्जा, रंग-सज्जा, प्रस्तुति में सम्पूर्ण दृष्टि और उसके निर्वाह, अभिनय-

शैलियों, विभिन्न अभिनय शैलियों के प्रयोग की सार्थकता, अभिनेता की गतियों, समूह-संचालन आदि अनेक बहुत सारी स्थितियों से, यहाँ तक कि पूरी रंगशाला, उसमें बैठे दर्शक से जुड़ी होती है। इतनी सारी भूमि को अपने अनुभव और सृजनशीलता के आधार पर समेट पाना और संतुलित समीक्षा करना एक जटिल और बहुत ही दायित्वपूर्ण कार्य है।

जब हम नाट्य-समीक्षा की बात करते हैं तो वे सारी व्यावहारिक समस्याएँ सामने आती हैं जिनसे समकालीन नाट्य-समीक्षा मुक्त नहीं है बल्कि कई तरह के खतरों में फँसी हुई है। उसका आरंभ अन्तर्विरोधों के बीच हुआ है। वर्तमान समय में हिन्दी नाटक, हिन्दी रंगमंच, हिन्दी नाट्य-समीक्षा तीनों के सामने बहुत-से अनिवार्य सवाल हैं, अपरिपक्वता है और सही दिशा-ज्ञान नहीं है। एक ओर नाटक की सार्थकता का सवाल है, उसकी रचना-सीमाओं की चिन्ता है, दूसरी ओर हिन्दी रंगमंच की भारतीय प्रकृति और उसके लोक-परम्परा से जुड़ने का सवाल है और तीसरी ओर दोनों के स्वभाव के सामंजस्य और संतुलन का सवाल है। इसके साथ बहुत सारी वे समस्याएँ हैं जो आम होते हुए भी घातक हैं और जिनसे उबरना या जिन पर गहराई से सोचने और फिर निर्णय लेने की आवश्यकता है—

१. अभी नाट्य-समीक्षा का सही रूप-निर्धारण नहीं हुआ है। अधिकतर समीक्षा या तो व्यावहारिक रंग-समीक्षा के रूप में है या पुस्तक-समीक्षा के रूप में। जाहिर है दोनों पक्ष एकांगी, अधूरे हैं। एक में केवल प्रस्तुति पक्ष की टिप्पणी, सूचनाएँ या विवरण होता है, दूसरी में नाटक की पुस्तकीय समीक्षा।

२. कुछ समीक्षक हर साहित्यिक विधा के समीक्षक हैं। कहानी, उपन्यास, कविता, फिल्म, चित्रकला, नाटक, रंगमंच हर विधा, हर कला पर लिखना उनकी हॉबी है। ऐसे समीक्षक नाट्य-समीक्षा को भी एक नाटक रिपोर्ट की तरह प्रस्तुत कर अपनी अहंतुष्टि करते हैं। इस तरह की रिपोर्ट में अधिकांश भाग नाटक के कथ्य पर पूरी बौद्धिकता के अन्दाज में होता है, उसके बाद कुछ पंक्तियों में अभिनेताओं का जिक्र और फिर दृश्य, प्रकाश, ध्वनि, वेशभूषा आदि पर कुछ सस्ती घिसी-पिटी मोटी-मोटी बातें। निश्चय ही ऐसे समीक्षकों के पास रंगमंच के व्यापक अर्थ-संभावनाओं, अभिनय तथा अन्य कलाओं और प्रकाश एवं दृश्य-बन्ध के अर्थगर्भित प्रयोगों, विभिन्न शैलियों और पद्धतियों को पहचानने की दृष्टि बल्कि जानकारी ही नहीं के बराबर होती है जिसे वह बुद्धिजीवी के रूप में पेश करता है।

३. वर्तमान समय नाटक और रंगमंच में प्रसिद्धि, धन, यश की सम्भावनाओं का काल है जो साहित्यकार में और साहित्यिक उठा-पटक में लगे हुए

लोगों में कभी रंगकर्मी होने का मोह पैदा करता है, कभी रंग-समीक्षक होने का। ऐसे समीक्षक स्वयं आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण और पूर्वाग्रहों के शिकार हैं जब कि समीक्षक को पूर्वग्रह से बचना ही चाहिए—वह भी वहाँ जहाँ उसकी समीक्षा नाट्य-साहित्य, नाटककार, निर्देशक, अभिनेता, कलाकार, दर्शक-वर्ग यानी पूरे जीवन और जीवन-मूल्यों को प्रभावित करेगी। ऐसे समीक्षकों की कमी नहीं है जो महीनों सोये पड़े रहते हैं, लेकिन कोई विशेष या महत्त्वपूर्ण (उसकी अपनी दृष्टि में) आयोजन के होते ही सहसा जाग पड़ते हैं और अपने को रंगमंच, उसके माध्यम से रंग-समीक्षा, उसके माध्यम से नाटक और तब नाट्यसमीक्षा की दुनिया से जुड़े रखना चाहते हैं यद्यपि उसके पास देशी-विदेशी नाट्य-साहित्य और रंगमंच की परम्पराओं को जानने-समझने की फुर्सत नहीं है। तब भी संघर्षरत रंगकर्मी को, पूरे हिन्दी नाटक और रंगमंच को सही दिशा और तार्किक ज्ञान देने का सारा उत्तरदायित्व वह अपने ही कंधों पर उठाए घूमता है और गुटबाजी से, छल-छंद से रंगकर्मी की एकनिष्ठता और सत्यान्वेषण की तीव्रता को तोड़ना चाहता है। यह नेतागीरी और ठेकेदारी की प्रवृत्ति सही नाट्यसमीक्षा को खतरा पहुँचा रही है।

४. कुछ ऐसे गम्भीर समीक्षक भी हैं जिनके पास गहन अध्ययन है, सोचने की शक्ति है, अन्वेषण की क्षमता है लेकिन रंगमंच की गहरी सूझ-बूझ, अनुभव और उससे जन्मा चिन्तन नहीं है। पूरे भारतीय और पश्चिमी रंगमंच की जानकारी किए बिना वह हिन्दी रंगमंच पर फुटकर रूप में दीखने वाले कुछ नये प्रयोगों को सहसा उछालना चाहता है। इस समय हिन्दी रंगमंच, हिन्दी नाटक दोनों में निर्देशक, नाटककार कुछ नये चौंकाने वाले प्रयोग कर रहे हैं—बिना यह सोचे कि भारतीय संदर्भ में उनकी उपयोगिता कहाँ तक है? वह संगत है या असंगत? हिन्दी रंगमंच अपनी शास्त्रीय परम्परा और लोकपरम्परा से जुड़कर, उसके बीच से कुछ सार्थक अन्वेषण करके ही भारतीय जीवन, चिन्तन-धारा और संस्कृति से सम्बद्ध हो सकेगा, इस सत्य से आँख मूँदकर अधकचरी मनःस्थिति में समीक्षक जब पश्चिमी नमूनों से आक्रान्त प्रयोगों की, कुछ नये लटके-फार्मूलों की—जो निस्सन्देह अपने पैर जमाने के साधनमात्र हैं—वाहवाही और प्रचार करने लगता है तो एक अजीब घालमेल की स्थिति पैदा होती है और भावी खतरों का आभास होने लगता है।

५. उन समीक्षकों के लिए क्या कहा जाय जो किसी नाट्यकृति को पूरी तरह पढ़ते भी नहीं, आत्मसात् करने का तो प्रश्न ही नहीं। केवल कृतियों की प्रकाशन-सूची देखकर या कभी पुस्तक उलट-पुलटकर या ज्यादातर

उसकी कहीं कोई समीक्षा पढ़कर-सुनकर एक तस्वीर दिमाग में बना लेते हैं और बिना उसके आगे-पीछे का इतिहास जाने-पहचाने कुछ भी कहने का दावा करते हैं बल्कि मात्र प्रदर्शन देखकर कभी नाट्यकृति को ही रंगमंच की सफलता मान लेते हैं, कभी रंगमंच को ही नाट्यकृति की। इस तरह नाट्यसमीक्षा कभी-कभी कुछ बुद्धिजीवियों की महत्त्वाकांक्षा का, कभी मात्र अध्यापकीय किताबी ज्ञान का, कभी पत्रकारों का, कभी अपरिपक्व मस्तिष्क का शाब्दिक खिलवाड़, मात्र एक अस्त्र बन जाती है।

६. सबसे बड़ा संकट समकालीन नाट्यसमीक्षा के सामने है कि नाट्यसमीक्षक का अलग कोई अस्तित्व नहीं है—ऐसा नाट्यसमीक्षक जिसकी समीक्षा प्रामाणिक, विश्वसनीय, रचनात्मक मानी जाए, एक ठोस आधार के रूप में जिसमें सृजन-शक्ति की प्रेरणा हो। अखबारी स्तम्भकार को नाट्य-समीक्षक नहीं कहा जा सकता। उसका तो अखबारी मुद्रा में हाल में बैठना ही नाटककार, निर्देशक, समीक्षक के बीच तनाव पैदा करता है। यह दुर्भाग्य ही है कि हिन्दी में नाटककार निर्देशक की मनमानी, कतर-ब्यौंत, स्वतंत्रता से परेशान है, निर्देशक समीक्षक के अज्ञान और मनमानी से। निर्देशक, समीक्षक, नाटककार के बीच एकरूपता नहीं है।

इन स्थितियों में आज समीक्षक का दायित्व बहुत बढ़ जाता है। इन सारी विरोधात्मक, खतरनाक स्थितियों और अन्तर्विरोधों से उबरकर व्यक्तिगत समीकरण से हटकर ठोस रचनात्मक दृष्टि से सही खरी कसौटी की तलाश करनी है। आखिर आज नाट्यसमीक्षक क्या करे? वस्तुतः समीक्षक का पहला कर्तव्य है कि वह भारतीय संदर्भ में नाटक की माँग पर विचार करे। नाटक हम क्यों करते हैं? किसके लिए करते हैं? नाटक और रंगमंच से हमारी अपेक्षाएँ क्या हैं? इन प्रश्नों से टकराकर अपनी मूल भारतीय चेतना से जुड़कर ही उत्तर तलाश करना है। उसी के आधार पर हम निर्णय कर पायेंगे कि नाटक और रंगमंच का कौन-सा रूप उपयोगी है। समीक्षक यह सोचे कि आज महानगरों के नाम पर और नवीनता के चमत्कार के नाम पर जो पश्चिमी रंग-दृष्टि, अभिनय-शैली, शारीरिक क्रियाएँ अपनायी जा रही हैं, उनकी प्रासंगिकता यहाँ क्या और कितनी है? भारत बहुत बड़ा देश है जहाँ अलग-अलग क्षेत्र हैं और विविधता से भरे पड़े हैं। कला और जीवन के इतने विविध रंग कहीं नहीं मिलेंगे। यहाँ बहुत पुरानी नाट्य-परम्पराएँ रही हैं—संस्कृत नाट्य-परम्परा और लोक नाट्य-परम्परा। आज के संदर्भ में उन्हें केवल एक मोड़ देने की आवश्यकता है। हिन्दी रंगमंच और हिन्दी नाटक अपनी प्रकृति की जड़ें यहाँ पाएगा या पश्चिम से उधार लिए कुछ लटकों-प्रयोगों में? असल में प्रयोगों को प्रयोग के नाम पर ही समझने की आवश्यकता है, प्रयोग ही को सब कुछ सहसा मान लेना

अपरिपक्वता की निशानी है। नाटक का सम्बन्ध अभिनय से है, अभिनय का तात्पर्य अभिनेताओं की गतियों, अंग-संचालन, उनके समूह-संचालन, भाव-भंगिमाओं, मुद्राओं से है। आज के मंच पर, यहाँ तक कि उसके अनुकरण से नाटक के अन्दर भी पश्चिमी अभिनय शैली के नमूने, तेज गति, सपाटबयानी, सपाट चेहरे, चीखने-चिल्लाने की मुद्रा में संवादों की अदायगी जिससे संवादों की अपनी लय, लय का अर्थ, सूक्ष्म संजीदगी टूट जाती है—और साथ ही एक्शन की भरमार। पहले सोचना जरूरी है कि हमारी अपनी कोई विशेष रंग-दृष्टि है या आनी चाहिए ? क्या हिन्दी में सम्पूर्ण अभिव्यक्ति, अभिनय की पद्धति, शैली अलग होगी ? क्या हमारी अभिनय-पद्धति को, प्रस्तुतीकरण पद्धति को हमारी पारम्परिक नाट्यकला, रंग-कला और लोकनाट्य-परम्परा से कुछ ग्रहण करना चाहिए ? हिन्दी रंगमंच के मूल्यों और नाट्यसमीक्षा के मानदंडों को खोजने के लिए इन सवालों से टकराना अनिवार्य है और इनका सहसा कोई उत्तर नहीं हो सकता। इन प्रश्नों से टकराना और किसी निर्णय तक पहुँच पाना तब तक सम्भव नहीं है जब तक समीक्षक जहाँ नाटक की रचना-प्रक्रिया से अवगत हो, वहीं उसके प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया से भी। कम से कम उसकी कल्पना में लेखन और प्रस्तुति की मिलती रेखाएँ बहुत स्पष्ट हों, नाटक के विचार और अनुभूति के साथ-साथ दर्शक की कल्पना, रंगानुभूति, अभिनेता का, निर्देशक का व्यक्तित्व और दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो, समस्त ललितकलाओं, मंच-पद्धतियों की समझ के साथ-साथ अपने देश के रंगमंच का पूरा इतिहास, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ, मान्यताएँ, बाधाएँ और विकास-स्थितियाँ उसके मस्तिष्क में स्पष्ट हों। वह यह भी समझे कि नाटककार की रंग-दृष्टि भी उसके नाटक में निहित रहती है। वह अलग से केवल दृश्यबन्ध, वेशभूषा, प्रकाश-व्यवस्था, शृंगार, ध्वनि-प्रभाव आदि से नहीं पहचानी जा सकती, वह पूरे नाटक की बुनावट में पहचानी जानी चाहिए। इसलिए यह कहना भी गलत होता है कि 'रंगमंच की दृष्टि से नाटक की समीक्षा' या नाटक की—कृति की समीक्षा अलग और उसकी रंगमंचीय संभावनाओं की समीक्षा अलग और रंगमंचीय सम्भावनाओं भी समीक्षा अलग। या सिर्फ यह कह देना भी काफी नहीं है कि समीक्षक नाट्य-प्रस्तुति देखकर नाट्यसमीक्षा करे। नाट्यकृति का पढ़ना और उसकी प्रस्तुति को देखना जरूरी अवश्य है लेकिन ज्यादा जरूरी है नाटक के मूल में निहित उसके रंगमंच-माध्यम और परस्पर सम्बन्ध-सूत्रों की उनके रचाव की आन्तरिक समझ। यही कारण है कि हर समीक्षक सफल नाट्य-समीक्षक नहीं हो सकता। नाटक के आलेख और रंगमंच पर सूक्ष्म पकड़ ही इस जटिल कला की समीक्षा की जा सकती है, थोथी जानकारी से नहीं। आश्चर्य है कि हमारी अनेक साहित्यिक गोष्ठियों में—चाहे वे प्रादेशिक स्तर पर हों, चाहे अखिल भारतीय स्तर पर—नाट्य-समीक्षा के नये प्रतिमानों के अन्वेषण के प्रसंग में कभी बहस नहीं होती। परस्पर विचार-विनिमय से किसी ज्यादा ठोस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

समकालीन नाट्य-समीक्षा और नाट्य-समीक्षक

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में नवजागरण का एक नया युग प्रारम्भ हुआ राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और यहाँ तक कि जीवन और साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में भी बड़े-बड़े परिवर्तन हुए, नये मानदण्ड और नया जीवन-दर्शन गढ़ा गया। '४७ के बाद घटने वाला यह सारा परिवर्तन नया था और एकदम नया। पिछले तीस वर्षों में, तो लगता है पुराना सब कुछ पलट गया—बचा है तो केवल साहित्य और साहित्य में भी विविध आयामी परिवर्तनों का पिछले तीस वर्षों का एक अपना पृथक् और स्वतंत्र इतिहास है। इसे नाटक और नाट्य-समीक्षा के सन्दर्भ में भी आसानी के साथ और स्पष्टता के साथ समझा जा सकता है। पहले नाटक का उद्देश्य था केवल दर्शकों का मनोरंजन करना और नाट्य-समीक्षा थी—विद्यार्थियों की परीक्षा के लिए तैयारी। तब नाटक जीवन की अनुकृति नहीं था—आलोचना में रंग-दृष्टि नहीं थी। जीवन और जगत के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोणों के साथ-साथ बदलते साहित्य और आलोचना के मानों ने आगे चलकर यह स्थापना दी कि नाटक केवल मनोरंजन नहीं, जीवन की जीवन्त व्याख्या है, इससे भी आगे बढ़कर, नाटक को जीवन की अनुकृति तक स्वीकार कर लिया गया। बदलती हुई मूल्य-चेतना ने पुराने मूल्यों को समकालीन जीवन के लिए व्यर्थ और अनुपयोगी सिद्ध कर दिया। नाटक और रंगमंच दोनों को जोड़कर, एक-दूसरे का अभिन्न अंग मानकर नाट्य-समीक्षा अग्रसर हुई। नयी नाट्य-समीक्षा का यह अभ्युदय काल था। निस्सन्देह नाट्य-समीक्षा की दिशा परिवर्तित करने और दशा प्रवर्तित करने का श्रेय नाट्य-समीक्षकों के सैद्धांतिक अवदानों, दायों से जुड़ा है जिसने क्रमशः विकास करते हुए अब परिपक्वता प्राप्त करना शुरू कर दिया है। नई चेतना से अभिभूत इन नये नाट्य-समीक्षकों ने यह देखा—समझा कि रंग नाटक और पाठ्य नाटक के रूप में नाटकों का विभाजन करने से सम्पूर्ण नाट्यविधा ही गुमराह हो रही है। इसलिए मंचीयता को आधार बनाकर सर्वप्रथम समीक्षकों ने पाठ्य नाटक शब्द का ही बहिष्कार करना शुरू कर दिया। .नाटक उसे ही स्वीकार किया जाने लगा जिसे

रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाना सम्भव हो। इस सम्बन्ध में विगत दशकों में बहुत सारे सवाल उठाए गए—वाद-विवाद चले और अंततः 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः'; तत्त्वबोध के रूप में एक साफ-सुथरी नाट्य-समीक्षा पद्धति आकार ग्रहण करने लगी। उसमें संस्कार और परिमार्जन तो यों अब भी चल रहा है—पर अब नव नाट्य-समीक्षा के स्थायी प्रतिमान निर्धारित किए जाने लगे हैं। पिछले दशकों का चिन्तन-मनन अब निष्कर्षों में परिणत होने लगा है। इस परिणति प्रक्रिया में जिन समीक्षकों ने मानक स्तम्भों की भूमिका अदा की है, नाट्य-समीक्षा जगत उनका सदैव स्मरण करेगा।

नाट्य-समीक्षा की इस लम्बी विकास यात्रा में अपने अध्ययन, मनन, चिन्तन और अध्यवसाय से प्राथमिक महत्त्व का योगदान दिया है **डा० दशरथ ओझा** ने। अपने प्रारम्भिक लेखन से ही डा० ओझा नाट्य-साहित्य से सम्बद्ध रहे। आज यदि एक ओर हिन्दी नाटकों को व्यापक सन्दर्भों में समझने की कोशिशें की जा रही हैं तो दूसरी ओर नाट्येतिहास की पृष्ठभूमि भी पुष्ट की जाने लगी है। डा० ओझा ने नाटकों का विकासात्मक इतिहास, नाटक कोश, नाट्य-निबन्धादि के द्वारा अपने तौर पर नाट्येतिहास और कोश-कार्य की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान तो दिया ही, नाट्य-समीक्षा के क्षेत्र में नाट्याभिनय की दृष्टि से नाट्य-रूपों का विभाजन और समीक्षात्मक निबन्धों के द्वारा सैद्धान्तिक चिन्तन की दिशा भी स्पष्ट की। **डा० नगेन्द्र** यद्यपि नाटक को समर्पित आलोचक नहीं हैं तथापि उन्होंने आधुनिक हिन्दी नाटकों की सुन्दर समीक्षा ही नहीं की बल्कि एक नयी समीक्षा दृष्टि भी दी है। समस्या नाटकों के प्रेरणा स्रोत, स्वरूप और शिल्प विधि पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि भारत में आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने युवक-युवतियों में पुरानी मान्यताओं के प्रति सन्देह और घोर अनास्था को शक्ति और गति दी है। उन्होंने एकांकियों के उद्‌भव और विकास पर भी स्वतन्त्र रूप से विचार-विमर्श प्रस्तुत किया है।

नाटक और रंगमंच के सम्बन्धों के अन्वेषण एवं नाट्य-समीक्षा के प्रतिमानों को लेकर इधर जो भी सवाल उठे हैं उसके संदर्भ में **मोहन राकेश** द्वारा प्रस्तुत किया गया चिन्तन 'रंगमंच और शब्द' काफी महत्त्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत किए गए राकेश के विचार आलोचना और रचना दोनों ही स्तरों पर महत्त्व रखते हैं। रंगमंच और भाषा-सम्बन्धी प्रश्न भी कम महत्त्व के नहीं। यह ठीक है कि बर्टोल्ड ब्रैख्त और सैमुएल बैकेट के चिन्तन ने नाट्य-सिद्धान्त और रचना दृष्टि को एक गम्भीर मोड़ दिया है और आज जब यूरोप में ये चिन्तन बासी पड़ गए हैं हमारे यहाँ उनका क्रांतिकारी चिन्तन के रूप में स्वागत किया जा रहा है। स्वाभाविक है कि समकालीन नाट्य-समीक्षक इस पाश्चात्य चिन्तन से प्रभावित होते—और इन्होंने भारतीय नाट्य-चिन्तन तथा समीक्षा दृष्टि को प्रभावित किया भी है। इनकी व्यावहारिक उपयोगिता चाहे जो भी सिद्ध हो पर एक बात तो स्वीकार करनी पड़ेगी कि ब्रैख्त

और बैकेट ने हिन्दी के आधुनिक नाट्य-समीक्षकों को प्रभावित किया और रंगकर्मियों के रंगबोध और नाटककारों के संरचना शिल्प में परिवर्तन किया है—जिससे जीवन और नाटक दोनों को देखने की एक नयी दृष्टि आई है और आज के नाट्य-समीक्षक की आँख आज काफी साफ है।

आज नाटक को जनसाधारण के बीच लाने, दर्शक और नाटक के बीच की खाई पाटने, लोकमंच और लोक-शैली को भारतीय परिवेश में और अधिक महत्त्वपूर्ण बनाने की चेतना रंगकर्मियों में प्रमुख है। इस दिशा में **डा० लक्ष्मीनारायण लाल** ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। डा० लाल का कहना है कि—'किसी भी रंगमंच के लिए उसका निकटतम अतीत और उसकी समझ तथा उससे साक्षात्कार बहुत ही आवश्यक है। डा० लाल का कहना है कि निकटतम अतीत को जाने बिना और उससे साक्षात्कार किए बिना अपने वर्तमान की रचना नहीं की जा सकती। डा० लाल ने समय-समय पर नाटककार की जिम्मेदारी के सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण सवाल उठाए हैं और लेखन निर्देशन, अभिनय तथा संगठन सभी स्तर पर अपने अनुभव द्वारा नाटक और रंगमंच के बीच संवाद स्थापित करने में तथा नाटक के प्रति सही आलोचनात्मक दृष्टि पैदा करने में उन्होंने जो सक्रियता दिखायी है उससे आधुनिक नाट्य-समीक्षा को काफी बल मिला है। निश्चय ही डा० लाल ने अपनी नयी रंगदृष्टि द्वारा नाट्य-समीक्षा के विकास में एक नयी चेतना भर दी है। पारसी-हिन्दी रंगमंच के सम्बन्धों का अन्वेषण, नाटक और रंगमंच के सम्बन्धों का अन्वेषण और आधुनिक नाटकों के लिए अपेक्षित समीक्षा दृष्टि—हिन्दी नाट्य-समीक्षा जगत को डा० लाल की देन है। रंगमंच के विषय में डा० लाल की यह अवधारणा कि 'रंगमंच नाटक का मूर्त्त सत्य है' आज वैचारिक जगत में लगभग निर्विवाद सत्य-सा स्वीकृत हो चुका है और नवागंतुक समीक्षक इस दृष्टि का उपयोग अपनी नाट्य-समीक्षा में करने लगे। आधुनिक नाट्य-समीक्षा की परिपक्वता प्रदान करने में डा० लाल की महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्विवाद है।

नाट्य-समीक्षा को रंगमंच से जोड़ने और रंग-दर्शन को एक सैद्धान्तिक दिशा देने का श्रेय **नेमिचन्द्र जैन** से जुड़ा हुआ है। 'नटरंग' जैसी रंगमंचीय-पत्रिका के माध्यम से श्री जैन ने रंगमंच और नाटक से सम्बद्ध लोगों के लिए एक स्वतंत्र विचार-मंच प्रस्तुत किया। 'नटरंग' को प्रारम्भिक अंकों में 'नाट्य-समीक्षा : कुछ जरूरी सवाल' शीर्षक से आयोजित परिचर्या और इस सन्दर्भ में श्री जैन तथा अन्य समीक्षकों के प्रकाशित मन्तव्य अपना महत्त्व रखते हैं। **इब्राहिम अलकाजी** और **सुरेश अवस्थी** जी ने भी अपने समीक्षात्मक निबन्धों में निर्देशक के सृजनात्मक वक्तव्यादि में मंचीय अभिव्यक्ति, दृश्यबन्ध, प्रयोग की आत्मा एवं नाट्य-प्रयोगों के कतिपय विशेष पक्षों पर अपने सैद्धान्तिक चिन्तन प्रस्तुत किए जिनसे समकालीन निर्देशकों के अलावा समकालीन नाट्य-समीक्षकों को भी दिमागी खुराक मिली है। इसी प्रकार **इन्दु दवे** और **अरविन्द फाटक** ने नाट्य-निर्देशन सम्बन्धी कई महत्त्वपूर्ण बातें एक नई दृष्टि के साथ सामने रखी हैं। **गोविन्द चातक** समीक्षकों की कर्तव्यहीनता के पक्षों का उद्घाटन

करते हुए समीक्षा में समीक्षकीय ईमानदारी की वकालत करते हुए नाट्य-रचना की मूल प्रेरणा नाट्यानुभूति, युग-बोध, मानवीय आशा-आकांक्षा से युक्त संवेदनाओं को नाटक के जीवन दर्शन की खोज से सम्बद्ध कर अपनी समीक्षकीय दृष्टि का परिचय देते हैं और व्यावहारिक स्तर पर जगदीशचन्द्र माथुर, मोहन राकेश एवं जयशंकर प्रसाद के नाटकों का उसी क्रम से मूल्यांकन प्रस्तुत कर अपने सिद्धान्तों का एक मानक निदर्शन भी उपस्थित करते हैं। चातकजी की समीक्षा दृष्टि नाट्य-समीक्षा की परिपक्वता की निशानी हैं। गोविन्द चातक की समीक्षाओं से नाट्य-समीक्षा का एक सन्तुलित और स्वस्थ रूप उभरता है जो भविष्य की स्वस्थ समीक्षा परम्परा का एक सार्थक प्रारम्भ सिद्ध होता है।

सिद्धनाथ कुमार जब नाटक को जीवन के साथ जोड़ते हुए उसमें जीवनोपयोगी तत्त्वों का अन्वेषण करते हैं तो समकालीन नाट्य-समीक्षा की एक समीक्षा दृष्टि का पोषण ही करते हैं। सिद्धनाथ कुमार की दृष्टि में वे नाटक रंगमंच पर असहज सिद्ध होते हैं, उनके पात्र कृत्रिम प्रतीत होते हैं—जिन नाटकों में जीवनोपयोगी तत्त्वों का अभाव होता है। नाटक को जीवन से जोड़ने की यह दृष्टि आज की नाट्य-समीक्षा का एक प्रमुख दृष्टिकोण बन गया है। **विष्णुकान्त शास्त्री** भी जीवनोपयोगी नाटकों पर बल देते हैं और रंगमंच पर उसे वे एक जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार करते हैं। जीवन-दर्शन से कटे हुए नाटकों को वे नाटक स्वीकार नहीं करते। यहाँ तक आते-आते नाट्य-समीक्षा के समीक्षा मूल्य में एक दृढ़ता आ गयी परिलक्षित होती है। अर्थात् अब नाट्य-समीक्षा निष्कर्षों की ओर अग्रसर है। **गिरीश रस्तोगी** में आकर यह दर्शन और साफ हो जाता है जब वे स्वीकार करती हैं कि वही नाटककार सफल हैं जिनके नाटक समाज और आधुनिक जीवन सन्दर्भों तथा प्रश्नों को, कृत्रिमता और खोखलेपन को—चुटीलेपन के साथ और मनोरंजन के स्वाभाविक संस्पर्श के साथ सन्तुलित और संयमित रूप में प्रस्तुत करता है। रस्तोगीजी की समीक्षा कृतियाँ इसी नाट्य-दर्शन से अनुप्राणित हैं जिनका प्रौढ़तम निदर्शन राकेश की रचनाओं पर प्रस्तुत उनके मूल्यांकन में देखा जा सकता है।

कुँवरजी अग्रवाल नाटक और रंगमंच के सम्बन्धों के अन्वेषण में गहराई तक उतरते हैं और पाते हैं कि नाटक के सत्य को सम्प्रेषित करने वाला रंगमंच वस्तुतः एक माध्यम है। इस रंगमंचीय सन्दर्भ में अग्रवाल जी द्वारा प्रस्तुत की गई समीक्षा नाटक के चौथे आयाम का स्थान ले लेती है। 'दर्पन' और 'दीवार की वापसी' आदि कई नाटकों पर श्री अग्रवाल की समीक्षा लेखकीय दृष्टि के कारण आधुनिक नाट्य-समीक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय बन पड़ी है। आज के नाट्य-समीक्षक यह गम्भीरता से अनुभव करने लगे हैं कि नाट्य-समीक्षा लगे हाथों कर लिया जाने वाला काम नहीं रह गया है। इसका क्षेत्र अब इतना व्यापक हो उठा है कि यह अब समर्पित नाट्य-समीक्षकों का ही काम रह गया है। कुँवरजी अग्रवाल की ही भाँति **नरनारायण राय** भी नाट्य-समीक्षा को समर्पित समीक्षक हैं। इनकी समीक्षा दृष्टि अन्य की तुलना

में कुछ पार्थक्य रखती है, इस दृष्टि से कि श्री राय नाट्य-समीक्षा का कर्म कठिन साधना का कर्म मानते हैं और मानते हैं कि एक नाट्य-समीक्षक को नाट्य-समीक्षा के क्रम में 'देखते हुए पढ़ना और पढ़ते हुए देखना' पढ़ता है। सामान्यतः जो समीक्षाएँ देखने में आती हैं वे या तो पढ़े गए नाटक की या देखे गए प्रदर्शन की समीक्षा होती हैं—पर नरनारायण राय नाट्य-समीक्षा की एक ऐसी समन्वित समीक्षा-शैली के विकास के हिमायती हैं जिसमें नाटक के काव्यत्व और दृश्यत्व दोनों ही सम्भावनाओं पर समन्वित रूप से विचार किया जाय। नये नाटकों के आन्दोलन के पश्चात् और एब्सर्ड नाटकों की शैली के विकसित होने के बाद **सुन्दरलाल कथूरिया** की रसवादी समीक्षा दृष्टि अनायास ही ध्यान आकर्षित करती है क्योंकि आधुनिकता के सन्दर्भ में लिखे जा रहे नये नाटकों में ठीक नयी कविता की तरह रस-निस्पत्ति का सामान्यतः बहिष्कार किया जा रहा है। आज जब ऐसे नाटक सामान्यतः सुलभ हों जिन्हें रस-निकष पर कसना बेमानी साबित हो—वैसे वातावरण में नाटकों में रस का अन्वेषण निश्चय ही समीक्षक के उस प्राचीन अवधारणा की पुष्टि करता है जहाँ रस-निस्पत्ति का सिद्धान्त केवल नाटकों के लिए बनाया गया था। अलबत्ता अब की समीक्षा उसकी नयी और अपने तरह की व्याख्या भले ही कर लें। **श्री जयदेव तनेजा** एक अन्य समकालीन नाट्य-समीक्षक हैं जिनकी समीक्षा-दृष्टि परिमार्जित है और नाटक तथा रंगमंच से गहरे जुड़े बल्कि समर्पित समीक्षक हैं। श्री तनेजा नाटक के बाह्य शरीर और अलंकरण पर विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक नहीं मानते। उनकी दृष्टि में मुख्य है नाटक की आत्मा की तलाश। नाटक की यह आत्मा आलेख में अपने सूक्ष्मतम रूप में और प्रदर्शन में अपने प्रकटतम रूप में अभिव्यक्त होती है। उनकी समझ और पहचान रखने वाला उसे आसानी से पकड़ लेगा वरना वह नाटक के हाथ-पैरों से ही उलझा रह जायगा। श्री तनेजा की यह दृष्टि भी नाट्य-समीक्षा के एक गम्भीर सिद्धान्त का निरूपण करता है—बशर्ते उनकी बातों को गम्भीरता से लिया जाय।

नाट्य-समीक्षा के रूप में इधर दो प्रकार की समीक्षाएँ लिखी जाती रहीं—स्पष्टतः समीक्षकों के दो वर्ग बन गए दीखते हैं। एक वर्ग नाटक पढ़कर समीक्षा करता है और दूसरा देखकर। कुछ ऐसे समीक्षक भी हैं जो दोनों प्रकार की समीक्षाएँ लिख रहे हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पक्ष की ही समीक्षाएँ अधिक लिखते हैं। श्रीकृष्ण मोहन मिश्र, रश्मि वाजपेयी, विजय बापर, महेश आनन्द प्रभृत कतिपय समीक्षक प्रदर्शनों की समीक्षा को विवरण के स्तर से समीक्षा के स्तर पर लाने वाले विशेष रूप से उल्लेखनीय समीक्षक हैं। नाटकों के आलेख को आधार बनाकर समीक्षाएँ प्रस्तुत करने वाले समकालीन कतिपय उल्लेखनीय समीक्षक हैं रमेश तिवारी, नत्थनसिंह, अज्ञात, सूर्यप्रकाश दीक्षित, कृष्णदत्त पालीवाल, गिरिजासिंह, सुरेशचन्द्र शुक्ल, जगदीश शर्मा, विनीता अग्रवाल आदि बहुत सारे अन्य व्यक्ति। जिनके नाम छूट गए हैं—वे साधारण समीक्षक हैं ऐसी बात नहीं। कुछ नाम प्रतिनिधि समीक्षकों के रूप में यहाँ दिए गए हैं, बस।

हिन्दी नाटक के दर्शक और समीक्षक

"मैंने उन कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं, जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्र कर कुछ पैसा जुटाकर, चार पर्दे मँगनी माँग लेती है और दुअन्नी-अठन्नी के टिकट पर इक्के वाले, खोंचे वाले और दूकानदारों को बटोरकर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती है। उत्तररामचरित्र, शकुन्तला या मुद्राराक्षस कभी न ऐसे अभिनेताओं द्वारा अभिनीत हो सकते हैं और न जनसाधारण में रसोद्रेक का कारण बन सकते हैं। उनकी काव्य-प्रधान शैली कुछ विशेषता चाहती है"'यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरुचि सम्पन्न सामाजिक हों और पर्याप्त द्रव्य काम में लाया जाय तो ये नाटक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।" (जयशंकर प्रसाद)। "विक्टोरिया कम्पनी के उत्साही मालिक इसे विलायत भी ले गये थे, परन्तु वहाँ उन्हें सफलता न मिली। मिलती भी कैसे ? भारत सरीखी अनपढ़ जनता तो वहाँ थी नहीं जो छिछोरे-पन की हँसी-दिल्लगी और कृत्रिम हाव-भाव भंगिमा पर ही तालियाँ पीटने लग जाती"—(डा० सोमनाथ गुप्त)।

इन क्षोभपूर्ण उद्धरणों में हिन्दी नाटकों की अनुन्नति के एक बड़े कारण की ओर संकेत किया गया है। हमारा दर्शक-समाज प्रबुद्ध नहीं है। वह न तो नाट्य-कला और उसके पुजारियों को पर्याप्त सम्मान देता है, न उससे सूक्ष्म और उच्चस्तरीय कला प्रदर्शन की अपेक्षा रखता है। सस्ता मनोरंजन उसके लिए काफी है। ऐसी परिस्थिति में विकास कैसे सम्भव हो सकता है ?

संस्कृत के महिमाशाली नाटकों का आविर्भाव जिस सहृदय सामाजिक वर्ग की प्रेरणा एवं माँग से हुआ था, उसका कुछ अनुमान कालिदास द्वारा अपने दर्शकों के लिए प्रयुक्त विशेषणों से किया जा सकता है। विक्रमादित्य को रसभाव-विशेष-दीक्षा-गुरु, उनकी सभा को भूयिष्ठा विद्वत्-परिषद् तथा उसके सदस्यों को आर्य विदग्ध मिश्र की उपाधि कालिदास ने यों ही नहीं दी होगी।

मध्ययुग में देश के सांस्कृतिक अधोगमन के कारण कलाओं और कलाकारों का सम्मान जाता रहा। नाटक तो लुप्त ही हो गया। धार्मिक प्रेरणा से रामलीला या रासलीला तथा मनोविनोद की दृष्टि से भाँड़ों या नौटंकीबाजों का प्रदर्शन जनता देख लिया करती थी। इनमें भाग लेने वाले कलाकारों को दर्शक वाहवाही भी देते थे और कुछ पैसे भी, किन्तु इनके पेशे को सम्मान नहीं देते थे, इन्हें गम्भीरता से

ग्रहण नहीं करते थे। इसी मनोवृत्ति ने पारसी रंगमंच को लोकप्रियता भी दी और पर्याप्त आर्थिक सफलता भी। व्यापारिक दृष्टि होने के कारण पारसी कम्पनियों ने जनता को वही दिया जो उसे प्रेय था, वह नहीं जो साहित्य और समाज के लिए श्रेय बन सकता। शिकायत उनसे क्या हो सकती है, शिकायत तो उनसे है जो हिन्दी-भाषी समाज के अगुआ थे, जो न इन फूहड़ प्रदर्शनों का तीव्र प्रतिवाद कर सके, न विकल्प के रूप में सामान्य दर्शकों के समक्ष उनसे श्रेष्ठ नाट्य-रूप उपस्थित करने की स्थायी व्यवस्था कर सके। ऐसा तो नहीं है कि प्रतिवाद हुआ ही न हो। भारतेन्दु जब प्रमदाचरण मित्र के साथ पारसी के शकुन्तला नाटक के बीच से उठकर चले आये थे, या प्रसाद राय कृष्णदास के साथ अशोक के अभिनय को भ्रष्ट समझकर रंगशाला त्यागने के लिए बाध्य हुए थे तब वे हिन्दी के प्रबुद्ध दर्शकों की भावना का प्रतिनिधित्व ही कर रहे थे। ऐसे ही दर्शकों के दबाव से पारसी कम्पनियों को भी वीर अभिमन्यु, सीता-बनवास जैसे कुछ सुरुचिपूर्ण नाटक खेलने पड़े थे, किन्तु व्यापार रुचि-परिष्कार नहीं करता, रुचि का उपभोग मात्र करता है।

यह भी सोचने की बात है कि अव्यावसायिक साहित्यिक नाट्य-मण्डलियाँ क्यों सफल नहीं हो सकीं? ऐसा लगता है कि अन्य कारणों के साथ-साथ एक बड़ा कारण यह भी है कि उन्होंने दर्शकों की रुचि का पूर्ण उपयोग नहीं किया। परिष्कार की धुन में वे इतने आगे बढ़ गये कि दर्शक उनका साथ नहीं दे पाये।

हिन्दी नाट्य-क्षेत्र में दर्शकों के महत्त्व का सम्यक् विचार नहीं हुआ है, या तो उन्हें कोसा गया है या एक कल्पित आदर्श दर्शक-समाज की कल्पना करके नाटक लिखे और खेले जाने के छिट-फुट प्रयास हुए हैं। परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए था। उन प्रयासों को सफलता नहीं मिली। कालिदास की मान्यता 'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्' अर्थात् भिन्न रुचियों के व्यक्तियों को आनन्द देने वाला उत्सव प्रायः नाटक ही है, आज के नाटककारों एवं परिचालकों का भी मार्ग-दर्शन कर सकती है। नाटक ऐसा होना ही चाहिए जिसमें दर्शकों के विविध वर्गों को तृप्ति-दान की योजना हो। यदि सचमुच नाट्य-आन्दोलन को सफल बनाना है तो नाटकों के लेखन, विकास एवं प्रस्तुतीकरण में दर्शक वर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका को गम्भीरता से समझना होगा।

स्पष्टतः दर्शक का नाटक में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्य कोई भी लेखक, कोई भी कलाकार उन व्यक्तियों से उतना सम्बन्धित नहीं है, जो कि उनकी कृतियों के सम्पर्क में आते हैं, जितना कि नाट्यकार अथवा परिचालक। रंगमंच सम्बन्धी सारी चेष्टाओं का स्रोत एवं केन्द्र-बिन्दु दर्शक ही है, वही रंगमंच का नियामक है एवं उसी को ध्यान में रखकर उसी के लिए, उस तक पहुँचने के निमित्त, उसकी भावनाओं को छूने, उसकी बुद्धि को झकझोरने के उद्देश्य से ही नाटक मंचस्थ होता है।

नाटक में दर्शक एक समूह न रहकर एक इकाई बन जाता है और एक इकाई के रूप में ही वह प्रस्तुतीकरण के समय कला-निर्माण में सहायक होता है। वह प्रेक्षा-

गृह में मूक बैठा केवल देखता-सुनता ही नहीं रहता। अभिनय एक परिपूर्ण कलाकृति बनकर उसके सामने परिवेशित नहीं होता, वरन् उसके सम्मुख, उसकी उपस्थिति में अभिनेता, परिचालक, आलोक-निर्देशक आदि अन्य कलाकार जिस कलाकृति के निर्माण में संलग्न रहते हैं, जिस वातावरण, जिन भावनाओं की सृष्टि में सचेष्ट रहते हैं; दर्शक भी उन सबमें सहायक होता है और वही प्रस्तुतीकरण सफल होता है जिसमें रंगमंच के कलाकार दर्शकों के साथ समरसता स्थापित कर पाते हैं, पारस्परिक सहयोग से नाट्य-निर्माण में सफल हो पाते हैं। यदि मंचस्थ होने वाली कलात्मक अभिव्यक्ति दर्शक की कलात्मक अनुभूति नहीं बन पाती तो वह अधूरी रह जाती है और कलात्मक सृजन के चरम उत्कर्ष को नहीं पहुँच पाती है। अभिनय की परिपूर्णता अन्तिम पूर्वाभ्यास के साथ ही सिद्ध नहीं हो जाती, वह तब तक सिद्ध होती रहती है, जब तक अभिनय के समाप्त होने पर कलाकारों की अभ्यर्थना में बजती हुई तालियाँ गूँजती रहती हैं।

आधुनिक हिन्दी अभिनय का दर्शक, पाश्चात्य दर्शकों से तो भिन्न है ही—बंगाली, मराठी दर्शकों से भी भिन्न है। हिन्दी में चूँकि स्थायी रंगमंच ही नहीं है, अतः स्थायी दर्शक वर्ग भी नहीं है। लोक-नाट्य के दर्शक अधिकांशतः धार्मिक भावनाओं से या केवल मनोविनोद के लिए ही मंच की ओर आकृष्ट होते हैं। पारसी नाटकों का दर्शक तो केवल सस्ते मनोरंजन को, छिछली भावनाओं को ही अभिनय में खोजता था और खोजता है भी। शौकिया नाटकों के दर्शक को न तो नाटक देखने की आदत है, न भूख। वह नाटक में जाता है तो या तो दबाव में पड़कर या मनोरंजन की आशा से। यदि किसी प्रसिद्ध कृति के प्रदर्शन का आयोजन हो तो शायद कुछ छात्र भी पहुँच जाते हैं उस कृति या लेखक के प्रति आकर्षण से।

तो जब हिन्दी में नाट्य-दर्शक ही नहीं है तो रंगमंच की स्थापना कैसे हो और जब तक रंगमंच न हो-दर्शक कहाँ से आयें, नाटक कहाँ से लिखे जाएँ? इसी तरह के वृत्त में रंगमंच सम्बन्धी प्रश्न घूमते रहते हैं और उनका समाधान नहीं हो पाता। परन्तु कहीं से तो प्रयास करना ही है। और वह बिन्दु है ऐसे रंगमंच की स्थापना का, जिसे हिन्दीभाषी जनता का वह वर्ग, जिसके नाट्य-दर्शक होने की सम्भावना है, स्वीकार कर सके। प्रश्न है उस वर्ग की खोज का, उसकी रुचि, उसकी अपेक्षाओं के विश्लेषण का और साथ ही प्रश्न यह भी है कि क्या उस वर्ग की रुचि के सामने रंगमंच पूर्णरूपेण आत्म-समर्पण कर दें, या रंगमंच अपने आदर्शों पर दृढ़ रहकर उस वर्ग की रुचि के परिमार्जित होने की प्रतीक्षा करता रहे?

हिन्दी का सम्भावित दर्शक रंगमंच से अभी कुछ समय तक तो केवल मनोविनोद की, समय के अच्छी तरह से काटने के एक साधन की, अपेक्षा करेगा। एक बार उस दर्शक को नाटक देखने की आदत पड़ जाय, वह नियमित रूप से अभिनय को खोजने लगे, समझने लगे—उसके पास नाटक सम्बन्धी एक परम्परा (कन्वेंशन) हो जाय, एक पृष्ठभूमि हो जाय, फिर रंगमंच अपने गौरवपूर्ण पथ पर चल सकेगा—

उस पथ पर, जिसका उद्देश्य है कलात्मक आत्माभिव्यक्ति, युगाभिव्यक्ति।

हालाँकि हिन्दी के दर्शक सभी स्तरों के, सभी वर्गों के होते हैं, पर हिन्दी का साधारण दर्शक हिन्दी चलचित्रों से बहुत प्रभावित है। यह एक ऐसा सत्य है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह चाहता है चुस्त संवाद, भावनाप्रधान कथानक, तीव्र घटनाक्रम। उसके पास अभिनय के क्षेत्र में वे ही परम्पराएँ हैं, जो चलचित्रों ने उसे दी हैं। प्रयोगात्मक बुद्धिवादी रंगमंच पर वह एक कौतूहल भरी दृष्टि तो डाल लेगा परन्तु उसे स्वीकार नहीं कर पाएगा—कम से कम अभी तो। साथ ही यह भी याद रखना पड़ेगा कि चूँकि दर्शक रंगमंच को अभी नहीं खोजता, वरन् रंगमंच दर्शक को खोजता है, इसलिए दर्शकों की सुविधा का ध्यान उसे सतत रखना पड़ेगा। दर्शक अभी अधिक खर्च करके अभिनय के प्रति आकर्षित नहीं हो पायगा। इसलिए कम खर्च से प्रस्तुत अभिनयों को अभी आयोजित करना होगा।

नाटक-समीक्षक प्रेक्षागृह में बैठा वह प्रबुद्ध दर्शक होता है, जो अन्य दर्शकों की भाँति अभिनय की चेष्टाओं का रसास्वादन तो करता ही रहता है, परन्तु साथ ही उस अभिनय को सामाजिक, कलात्मक एवं बौद्धिक वातावरण के परिप्रेक्ष्य में भी देखता रहता है, जाँचता रहता है। वह अन्य दर्शकों की भाँति भावनाओं में बहता तो है, परन्तु कहीं एक दूरी भी रक्खे रहता है, जहाँ से वह अभिनय चेष्टा के मूल में पहुँचकर, उसे समझकर, दर्शकों की भावनाओं को, उस प्रस्तुतीकरण के प्रभाव को, रंगमंच के कलाकारों तक और प्रस्तुतीकरण के वास्तविक अनुदान को दर्शकों को पहुँचाता है। साहित्य एवं कला की पृष्ठभूमि में वह एक अभिनय विशेष के स्थान का निश्चय करता है एवं साथ ही दर्शकों की रुचि एवं प्रस्तुतीकरण की रूपरेखा को भी प्रभावित करता है। आज के पाश्चात्य नाट्य-जगत् में तो उसका स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण हो गया है और उसी की प्रतिक्रिया पर किसी अभिनय की सफलता-असफलता प्रायः निर्भर करती है—कम से कम व्यावसायिक दृष्टि से।

इस दृष्टि से हिन्दी की स्थिति बड़ी विचित्र है। चूँकि हिन्दी में साहित्यिक नाटकों की ही प्रधानता है, अतः नाट्य-समीक्षा की भी मुख्य रूप से साहित्यिक ही है। नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन हो, इसमें आपत्ति नहीं है, किन्तु वही हो, केवल रस, जीवन दृष्टि, कलात्मक अभिव्यक्ति, ग्रंथन कौशल ही नाटक के क्षेत्र में आलोच्य विषय हों और प्रदर्शन कौशल या रंग-शिल्प की पूर्ण उपेक्षा हो। यह बात एकांगी विकास की ही सूचिका है। यह सच है कि स्थायी रंगमंच हुए बिना और नियमित नाट्य-प्रदर्शनों के बिना इस प्रकार की समीक्षा का विकास नहीं हो सकता, किन्तु यह भी सच है कि समीक्षा इस दिशा में पृष्ठभूमि निर्माण करने में काफी सहायता पहुँचा सकती है।

पहली बात तो यह है कि थियेटर और नाटक के अन्तर और पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण होना चाहिए। अभी तक हिन्दी में इन दोनों सहयोगी और परस्परपूरक कलाओं को कभी-कभी एक ही समझा-समझाया जाता है, और प्रायः

'थियेटर' के सम्बन्ध में समीक्षक मौन ही रह जाते हैं। ऐलरडाइस निकाल के अनुसार 'थियेटर का अर्थ है किसी दर्शक समूह के समक्ष अभिनेतृ-समूह द्वारा प्रस्तुत किया गया प्रदर्शन', जब कि 'नाटक' का अर्थ है 'किसी लेखक या समूह द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत करने योग्य शैली में रचित साहित्यिक कृति।' अब यदि थियेटर के लिए उपयोगी ग्रन्थों को हिन्दी में ढूंढ़ने का प्रयास किया जाय तो निराशा ही हाथ लगेगी, नाट्य-प्रयोग, अभिनय, मंचसज्जा, रूपसज्जा, आलोक निक्षेप आदि अनेक ऐसे अत्यन्त उपयोगी विषय हैं, जिनके बारे में हिन्दी में करीब-करीब कुछ नहीं लिखा गया है। आचार्य भरत ने नाट्य-शास्त्र में अपने समय की नाट्य-सम्बन्धी साहित्यिक मान्यताओं का ही विचार नहीं किया था, प्रयोग सम्बन्धी निर्देश भी दिये थे। इन निर्देशों की प्रचुरता उनके ग्रन्थ की महत्ता और सर्वांगपूर्णता ही सिद्ध नहीं करती, यह भी बताती है कि नाट्य-कला उस समय जीवित और विकासशील कला थी। आज हमारे लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि हम विश्व रंगमंच की अधुनातन उपलब्धियों को हिन्दी के माध्यम से नाटककारों, परिचालकों, अभिनेताओं और दर्शकों तक पहुँचाएँ। हमारा समीक्षक वर्ग ही यह कर सकता है।

दूसरी बात यह कि नाट्य-समीक्षा केवल संस्कृत या पश्चिमी प्रतिमानों की उद्धरी होकर न रह जाय। उपलब्ध समीक्षात्मक ग्रन्थों में हिन्दी की आवश्यकताओं और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर विचार कम किया गया है और अन्य क्षेत्रों से बने-बनाए मानदण्डों का प्रयोग कर निर्णय अधिक दिये गये हैं। केवल सैद्धान्तिक ज्ञान को ही नहीं, नाट्य प्रयोग के व्यावहारिक ज्ञान को भी नाट्य-समीक्षक के लिए अनिवार्य माना जाना चाहिए। हिन्दी नाटक लेखन और प्रस्तुतीकरण को वर्तमान सन्दर्भ में रखकर देखा जाय, और नाटककारों और परिचालकों को रचनात्मक उपयोगी सुझाव दिये जाएँ।

तीसरी बात यह है कि दर्शकों की रुचि का निर्माण और परिष्कार करने का जागरूक प्रयास हो। नाट्यधर्मी नाटकों को समझने के लिए नाट्य-रूढ़ियों से परिचित होना आवश्यक है। पूर्व और पश्चिम की नाट्य परम्पराओं से दर्शक परिचित होकर स्थूल मनोरंजन के स्थान पर सूक्ष्म कलात्मक अनुभूति की माँग करने वाले हों, यह भी समीक्षक के कर्त्तत्व पर ही बहुत दूर तक निर्भर है। वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप किन्तु उन्नयनशील नाट्य-निकष का निर्माण करने का दायित्व भी समीक्षकों का ही है।

समय की माँग है कि हम इन चुनौतियों का सामना करने का कोई सुव्यवस्थित प्रयास करें। हमारा विश्वास है कि विचारकों के सामूहिक प्रयास से हम किसी फलप्रसू निर्णय पर पहुँच सकेंगे।

हिन्दी नाट्य-समीक्षा और रंगमंच

हिन्दी रंगमंच के विकास में एक बहुत बड़ी बाधा हमारी नाट्य-समीक्षा भी रही है। भारतेन्दु ने जब नाटक निबन्ध लिखा था तब सारा परिवेश रंगमंचीय था। उनके सहयोगियों में बालकृष्ण भट्ट, प्रेमनारायण चौधरी प्रेमघन, तथा लाला श्रीनिवासदास ने जब अपने नाटकों की भूमिकाओं में लम्बी-लम्बी समीक्षाएँ लिखीं तब भी उनकी दृष्टि रंगमंच पर रही थी। प्रेमघन सम्भवतः अकेले व्यक्ति थे जिनमें पारसी रंगमंच की अच्छाइयाँ स्वीकार करने की क्षमता थी : 'इनके पर्दे और नाट्यालय के सजावट के साज सुन्दर और सजीले, अभिनय के चारों गुणों से युक्त पात्र और उनकी समस्त प्रकार की बानक हाव-भाव और कटाक्ष कहाँ तक गिनावें सभी अच्छा है केवल भाषा अच्छी, साफ और शुद्ध नहीं है।'[1] नाटक और रंगमंच के समन्वय पर उनकी दृष्टि विशेष थी : 'निश्चय जानिए, एक-एक मिल तब ग्यारह की संख्या प्राप्त करते हैं, केवल बनाने वाला तब तक क्या करेगा जब खेलने वाला ठीक नहीं'।[2] प्रेमघन को पारसी रंगमंच की भाषा पसन्द नहीं थी किन्तु लाला श्रीनिवासदास को दूसरी ओर संस्कृतगर्भित संवाद पसन्द नहीं थे। 'रणधीर प्रेममोहनी' के निवेदन में इसीलिए उन्होंने बोलचाल की भाषा का समर्थन किया। उन्होंने अपने इस नाटक की भूमिका में अभिनय के लिए संकेत भी प्रस्तुत किए थे। बालकृष्ण भट्ट ने अपने 'भिक्षादान' नाटक 'संसार महानाट्यकाल' शीर्षक लेख और हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित 'नीलदेवी' और 'संयोगिता स्वयम्वर' की समीक्षाओं में अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। उन्हीं की भाँति ही किशोरीलाल गोस्वामी, देवीप्रसाद राय पूर्ण, राधाकृष्णदास, काशीनाथ खत्री, आदि नाटककारों ने नाटक ही नहीं लिखे वरन् नाटक के साहित्यिक और रंगमंचीय स्वरूप दोनों को ध्यान में रखकर नाट्य समीक्षाएँ भी प्रस्तुत कीं।[3] इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतेन्दु और द्विवेदी युग में नाट्य-समीक्षा का जो रूप विकसित हुआ उसमें एक ओर नाटक की साहित्यिकता पर बल दिया गया, तो दूसरी ओर अभिनय तत्त्व पर। इसीलिए प्रेमघन जी ने १८८१ की आनन्द कादम्बिनी में

---

१. प्रेमघन सर्वस्व, पृ० २६

२. आनन्द कादम्बिनी, भाद्रपद सं० १९४२ वि०, पृ० ४

३. विस्तार के लिए देखिए ; निर्मला हेमन्त लिखित, 'आधुनिक हिन्दी नाट्यकारों के नाट्य सिद्धान्त', पृ० ७०-१८०

नागरी भाषा में नाट्यशास्त्र की आवश्यकता को समझा और इस बात पर विशेष बल दिया कि 'चाहे क्षुद्र विषय पर भी कोई नाटक लिखे तो भी कोई दोष नहीं, पर नाटक हो तो।' भद्दे नाटकों को फाड़कर फेंक देने के सिवा वे किसी काम का नहीं समझते थे। दूसरी ओर -साहित्यिकता और अभिरुचि के साथ-साथ अभिनय को नाटक का बहुत बड़ा गुण कहा जाता रहा। इसीलिए प्रेमघन जी ने पारसी रंगमंच की तारीफ की है: 'कहाँ तक गिनावें—सभी अच्छा है।' यह कथन परोक्ष रूप से हिन्दी के अपने रंगमंच की आवश्यकता को भी व्यक्त करता है।

भारतेन्दु युग में नाट्यालोचना पुस्तक समीक्षाओं अथवा लेखों के रूप में उभरी इन आलोचनाओं में प्राय: क्या चीज अच्छी है, क्या बुरी-इस तरह के हवाले ही मुख्य होते थे। कभी-कभी परामर्श भी होता था और नाटककार का जाति कुल परिचय भी। प्रेमघन ने आनन्द कादम्बिनी में जो समीक्षाएँ कीं उनमें यह सब कुछ है किन्तु इसके साथ ही रंग सम्बन्धी दृष्टि भी। संयोगिता-स्वयंवर की समीक्षा इस बात का प्रमाण है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'नाट्य-शास्त्र' लिखकर नाट्य-समीक्षा के लिए मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास किया। उन्हें नाटक या नाट्य-समीक्षा से कुछ लेना-देना नहीं था, किन्तु नाटक की साहित्यिकता की उन्हें चिन्ता थी और इसके साथ ही यह भी अहसास था कि 'हिन्दी में जो नाटक इस समय लिखे विद्यमान हैं उनमें अधिकांश का ठीक-ठीक अभिनय ही नहीं हो सकता।'

हमारी हिन्दी नाट्य-समीक्षा की शुरुआत एक जीवन्त परिवेश में हुई थी। पश्चिम में भी अरस्तू, होरेस, क्विन्तिलियन, गैलियस के बाद फ्रांस, जर्मनी और इंगलैंड में नाट्य-समीक्षाओं का जो दौर चला, वह जीवन्तता से परिपूर्ण रहा। एक जमाने में नेओ क्लासिज्म के विरुद्ध जर्मनी में काफी विवाद चला; स्वच्छन्दतावाद आया तो नाट्य-समीक्षा नये चिन्तन के साथ जूझती हुई आगे आयी। इसी समय विलियम हैजलिट ने 'मार्निंग क्रोनिकल' पत्र में अभिनीत नाटकों की आलोचना प्रारम्भ की। यथार्थवाद के उदय के साथ उसने नये हथियार अपनाए जिनसे इब्सन ने अपने आलोचक फ्रांसिस के सारसे का मुँह ही बन्द कर दिया। जोला, स्ट्रिंडबर्ग पिरांदेलो, मैटरलिंक, शॉ, आयनेस्को, आदि असंख्य नाटककार और दूसरी ओर स्तानिस्लावस्की, मेयर होल्ड, तैरोव, ब्रेख्त, जोन्स, क्रेग, अप्पिया, रेनहार्ट आदि रंगकर्मी नाट्य-समीक्षा की अपनी दृष्टि से कर अवतरित हुए जिससे नाट्य-समीक्षकों को एक सही दिशा मिल सकी।

दुर्भाग्य से नाटकीय गतिविधि के अभाव में हमारी नाट्य-समीक्षा को ऐसा सम्बल नहीं प्राप्त हो सका। हमारे यहाँ भरत का 'नाट्य-शास्त्र' नाट्य-समीक्षा की एक समृद्ध परम्परा का द्योतक अवश्य है किन्तु तदनन्तर 'अभिनव भारती' के बाद जो भी ग्रन्थ लिखे गए, उनमें पिष्टपेषण ही अधिक हुआ है। भारतेन्दु ने उस परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास अवश्य किया था, परन्तु उनके युग की जीवन्त परम्परा बहुत आगे तक नहीं जा सकी। भारतेन्दु युग के रंग और नाट्य के वातावरण

के समाप्त होते ही नाटक पाठ्य होकर रह गए और उस पर जो समीक्षाएँ लिखी गयीं वे विश्वविद्यालय के छात्रों को पढ़ने-पढ़ाने के उद्देश्य से ही मुख्यतः प्रेरित रहीं। इस प्रकार हिन्दी नाट्य-समीक्षा अपने दूसरे दौर में 'रूपक रहस्य' और 'साहित्यालोचन' से होती हुई रंगमंच के अज्ञानधर्मी हिन्दी अध्यापकों के हाथों में आ गयी। वहीं से उनकी दुर्दशा प्रारम्भ होनी शुरू हो गयी। फिर शास्त्रीय अध्ययनों और शोध की परम्परा का युग प्रारम्भ हुआ और विद्वान डाक्टरों ने नाट्य-समीक्षा का कचूमर निकालकर रख दिया। दुर्भाग्य से इसी काल में 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' प्रकाश में आया। शास्त्रीय अध्ययन के नाम पर इस समीक्षा कृति में प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक आधार ही अधिक चित्रित हुआ है, जो बच रहा, उसमें उन्होंने कार्यावस्थाओं, सन्धियों, अर्थ प्रकृतियों, रस, देश-काल आदि की तलाश की। इस प्रकार 'प्रसाद' जैसे स्वच्छन्दतावादी नाटककार के कृतित्व में, जिसने बहुत-सी नाट्यशास्त्रीय रूढ़ियों को तोड़ने का प्रयास किया, शोधकर्ता ने उन सबको आरोपित कर दिखाया और समग्र नाट्य-कृति को उजागर करने के बजाय, वर्गीकरणमूलक खाने-दराजों वाली नाट्य-समीक्षा को जन्म दिया। उसको आधार मानकर बाद में ढेरों ऐसी नाट्य-समीक्षाएँ लिखी गयीं जिसमें कथा-वस्तु विवेचन, चरित्र सृष्टि और नाट्य-शिल्प निरूपण के स्थान पर कथासार, चरित्र-चित्रण आदि करके इतिश्री मान ली गयी।

अगर यहीं तक बात रुक गयी होती तो खैर थी। विश्वविद्यालयों में नाटक के क्षेत्र में घनघोर शोधकार्य शुरू हुआ। फिर तो कई प्रकार की नाट्य समीक्षाएँ लिखी गयीं। शास्त्रीय अध्ययन से लेकर तुलनात्मक अध्ययन, नायक नायिका की परिकल्पना, चरित्र चित्रण, हास्य, नियति, नैतिकता, युगबोध शिल्पविधि, ऐतिहासिकता, पाश्चात्य प्रभाव तक। शास्त्रीय अध्ययन की सबसे बड़ी विडम्बना यह रही है कि शास्त्र का आरोप वहाँ भी किया गया है जहाँ शास्त्रीय रचना विधान का सर्वथा अभाव है। नाटक की समग्र आत्मा की तह तक पहुँचने की बजाय, समीक्षकों का ध्यान स्थूल तथ्यों पर ही अधिक रहा है। रंगमंचीय दृष्टि के अभाव में सारे अध्ययन एकेडेमिक प्रवृत्ति से इतने ग्रस्त दिखाई देते हैं कि उनको पढ़कर नाट्य प्रवृत्तियों का कहीं आभास ही नहीं मिलता। सबसे बड़ी विडम्बना उन अध्ययनों में दिखाई देती है जो कुछ सिद्ध करने की दृष्टि से लिखे गए हैं। हिन्दी नाटक में पाश्चात्य प्रभाव को आँकने का प्रयास दो-दो थिसिसों में हुआ पर प्रभाव के लिए जो स्थूल आधार ढूँढ़े गए हैं उनको देखते हुए हिन्दी नाट्य-समीक्षा का दीवालियापन ही नजर आता है। इधर एक लेखक या दूसरे लेखकों के नाटकों या एक भाषा और दूसरी भाषा के नाटकों की तुलना की प्रवृत्ति चल पड़ी है। मुझे उस तुलना में कोई औचित्य नहीं लगता जहाँ तुलना के लिए आधार ही नहीं। इसके कई भद्दे उदाहरण सामने आए हैं।

शोध-सम्बन्धी इस नाट्य-समीक्षा की दुर्दशा के कारण वे लोग भी हैं जो साहित्य और व्यवसाय में सौदेबाजी के साथ आते हैं। ऐसे लोग समीक्षा को उखाड़-पछाड़ का साधन मानते हैं पर उसमें न ज्ञान के प्रति ईमानदारी है और न साहित्य

के प्रति निष्ठा। इसी के कारण समीक्षा कृतिकार और समीक्षक के बीच लेन-देन और समझौता का प्रतीक बनकर रह गयी है।

एक विचित्र विरोधाभास यह है कि एक ओर तो अच्छे नाटककार स्वीकृति पाए बिना ही मर जाते हैं, दूसरी ओर सेठ गोविन्ददास जैसे सामान्य लेखक एक महान् नाटककार के रूप में वर्षों तक हमारे बीच जीवित रहे। कोई भी व्यक्ति नाटकीय प्रतिभा के अभाव में कितना ऊँचा उठ सकता है, इसका ज्वलन्त उदाहरण सेठ गोविन्द दास रहे हैं, और इसका श्रेय हिन्दी के स्वनामधन्य समीक्षक को ही है।

हिन्दी में ऐसे समीक्षक भी हैं जो कोशों, संकलनों और सम्पादनों का काम बखूबी कर रहे हैं। हिन्दी वाले उन्हें नाटकों का विशेषज्ञ मानकर पूजते भी रहेंगे; पर ऐसे लोग अधिक हैं जिनकी समीक्षा केवल कथासार और चरित्र-चित्रण से कभी आगे नहीं बढ़ी।

विश्वविद्यालयी समीक्षक की सबसे बड़ी सीमा यह होती है कि वह नाटक को साहित्य मानकर चलता है और उसे रंगमंच से जोड़ने की आवश्यकता वह नहीं समझता। फिर वह अपनी समीक्षा में टीका, वर्गीकरण पद्धति का आश्रय लेता है। उसे जो कुछ भी कहना होता है उसे एक शीर्षक और उपशीर्षक में कहे बिना चैन नहीं पड़ता। यहाँ तक कि अपनी आखिरी बात भी निष्कर्ष उपशीर्षक देकर कहता है। जितने भी शोध हुए हैं, उसकी शैली देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि एक फार्मूला पहले से बना लिया जाता है—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, देश-काल, भाषा-शैली, नाटक की आत्मा, नाट्य-प्रयोजन, नाटक के भेद—और फिर उस फार्मूले को किसी भी नाटक पर फिट कर दिया जाता है। इस तरह सारा शोध या तो चौखटे से बँध गया है या फिर पूर्वग्रहों और वैयक्तिक रुचियों के दायरे में फँस गया है। समीक्षक यह भूल जाते हैं कि नाट्य-शास्त्र को पढ़कर कोई नाटककार नाटक नहीं लिखता। कोई भी नाट्यकृति अपने साथ ही अपना रचना-विधान लेकर जन्म लेती है और एक नाटक और दूसरे नाटक की संरचना में उतना ही अन्तर होता है जितना एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति में। जो समीक्षा नाटक के बाह्य शरीर मात्र को टटोले, उसके हाथ-पाँव तो गिनाए पर उसके प्राणों के स्पंदन की पहचान न करा सके, उससे कोई लाभ नहीं।

हिन्दी का यह समीक्षक एक ओर नैतिकतावादी बनता है और दूसरी ओर यथार्थवादी। नैतिकतावादी बनकर वह नाटकीय पात्रों के चरित्र-चित्रण में—खासकर ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में—चारित्रिक विघटन को बर्दाश्त नहीं कर पाता। इसीलिए मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' में चित्रित कालिदास पर समीक्षकों को सन्तोष नहीं हुआ और नाटककार पर कीचड़ उछाला गया। विवश होकर अपने दूसरे नाटक की भूमिका में उसे इसकी सफाई करनी पड़ी। जगदीशचन्द्र माथुर ने प्रसाद के '[illegible]गुप्त' के पात्रों के सम्बन्ध में की गई समीक्षाओं का हवाला देते हुए ठीक ही लिखा है : 'कुछ समीक्षाओं में नाटक के आदर्शोन्मुखी पात्र में कालिमा की

स्थिति को लेखक का दोष ठहराया जाता है कि पोरस जैसे उदात्त पात्र को प्रसाद ने बाद के अंकों में स्वार्थी और विलासी दिखाया है। यह नाटककार का दोष नहीं, बल्कि उसकी सूक्ष्म दृष्टि का सबूत है। अनेक समीक्षाओं में मैंने पात्रों के स्तवन की प्रवृत्ति देखी है। समीक्षक पात्रों के शील के स्थायी बिन्दु खोजते हैं और यह दिखाना चाहते हैं कि हर परिस्थिति में पात्र उन्हीं बिन्दुओं के चारों ओर घूमता है, किन्तु ऐसा हमेशा नहीं होता।'[1]

इस सबके बावजूद वह यथार्थवाद की बात करता है। नाट्य-समीक्षा को यथार्थवाद की मिथ्या धारणा से जितनी हानि हुई है, उतनी किसी से नहीं। हिन्दी समीक्षक अपनी सारी भारतीय नाट्य-परम्परा को ताक पर रखकर नाटक को जीवन की यथातथ्य अनुकृति मान लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि चरित्र-चित्रण, कथावस्तु, संघटन, और रंग-प्रदर्शन में वह नाट्यधर्मी रूढ़ियों को न पहचान पाने के कारण—अस्वाभाविकता की बात करने लगा है। सचाई यह है कि नाटक जीवन की अनुकृति नहीं है—जीवन के प्रति एक दृष्टि है। पश्चिम में यथार्थवाद की प्रतिक्रिया में अनेक चिन्तन उभरे हैं। हिन्दी नाट्य-समीक्षक उनसे और अपने भारतीय नाट्य-चिन्तन से अवगत हुए बिना समीक्षा के सही मानदण्डों तक नहीं पहुँच सकता। इस असमर्थता के कारण आज हिन्दी समीक्षक, शोधार्थी और शोध के विशेषज्ञ—सत्रहवीं-अट्ठारहवीं शताब्दी में ही रह गए हैं।

नाट्य-समीक्षकों का एक दूसरा वर्ग है, जो विश्वविद्यालय की दुनिया से बाहर है। उसके पास नई दृष्टि है—उसमें नाटक और रंगमंच के समन्वय की सन्तुलित विचारधारा है। पर उसमें भी जोड़-तोड़ अधिक हैं, साहित्यिक ईमानदारी कम। अपने चारों तरफ वैदूष्य की हवा बाँधना, समीक्षक बनने की बजाय समीक्षकों का नेतृत्व करना—उनका लक्ष्य होता है। ऐसे ही समीक्षकों में एक समीक्षक हैं, जो नाटक के माहिर माने जाते हैं, किन्तु उनके माहिर होने का एक प्रमाण यह है कि उनकी थिसिस को आज भी २०-२५ साल से एक प्रकाशक के यहाँ बिना छपे ही दीमक चाट रहे हैं। उनकी विद्वत्ता के वाहक वे छिट-फुट निबन्ध हैं जो उन्होंने कभी पत्र-पत्रिकाओं, संकलन ग्रन्थों या भूमिकाओं के लिए लिखे हैं। इतनी सस्ती ख्याति जब पद की देन बन जाती है तो समीक्षा को उससे क्या लाभ हो सकता है?

इधर एक और नयी प्रवृत्ति दिखायी देती है कि नाट्य-समीक्षा के क्षेत्र में स्वयं नाटककार उतर आए हैं। प्रसाद तक तो खैर थी, लेकिन लक्ष्मीनारायण मिश्र से लेकर जगदीशचन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश, मुद्राराक्षस, तक—नाटककार कुछ न कुछ नाटक के बारे में कहने पर उतर आए हैं। इनमें से कुछ लोगों ने जो कहा है, उससे नाट्य-समीक्षा का बहुत बड़ा हित हुआ है; किन्तु यहाँ भी लगता है जैसे कुछ को नाट्य-समीक्षा की नहीं—अपनी फिक्र पड़ी हुई

---

१. माथुर का लेख, 'नाटक की निजी सत्ता की खोज', नटरंग अंक ३, पृ० १४

है। मैं एक ऐसे नाटककार को जानता हूँ जो खुद ही नाटक लिखते हैं और खुद ही अपने नाट्य-प्रदर्शनों की चटखारेदार समीक्षा पत्र-पत्रिकाओं में छपवाते हैं—हस्ताक्षर के रूप में नीचे स्वयं उनका नाम छप जाए तो आप उसे छापे की भूल न समझें; क्योंकि अपनी पुस्तकों में भी अपना नाम लेकर अपने नाटकों की समीक्षा करने की उनकी आदत है।

सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि अच्छा नाटक लिखना ही काफी नहीं है उसको स्थापित करने के लिए अच्छी कन्वैसिंग भी आवश्यक हो गई। वास्तव में आज उन नाटकों को अच्छा माना जाता है जिन पर खुद नाटककार कहकर अच्छी समीक्षाएँ लिखवा सकें, गोष्ठियाँ, विमोचन समारोह आदि आयोजित करा सकें। कई बार ऐसा भी होता है कि नाटककार किसी निर्देशक को अपना नाटक समर्पित करता है, उसके चक्कर लगाता है जिससे वह मंच पर आ सके। रचना के मंच पर आते ही रंग-समीक्षकों की खुशामद शुरू होती है और उस खुशामद से प्रस्तुति को जो महत्त्व मिलता है वह अर्जित न होकर जुटाया हुआ होता है। इस प्रकार रंग-समीक्षा भ्रष्टाचार का रूप धारण कर लेती है। इसीलिए कभी-कभी अच्छी नाट्य-कृतियों या प्रस्तुतियों की भ्रष्ट समीक्षाएँ की जाती हैं और भ्रष्ट कृतियाँ या प्रस्तुतियाँ प्रतिष्ठित की जाती हैं। सब लोग भ्रष्ट नहीं हो सकते; पर भ्रष्ट लोग कम नहीं हैं। रंग-समीक्षा तो कभी-कभी मूढ़ लोगों के हाथों में पड़ जाती है। उनका साहित्य से कोई वास्ता नहीं होता, न उसकी कोई समझ होती है। अखबारों में जो समीक्षाएँ इस तरह की छपती हैं वे या तो उखाड़-पछाड़ के लिए लिखी जाती हैं या खानापूरी करने के लिए। इससे नाटक और रंगमंच का कोई हित नहीं होता और न नाट्य-समीक्षा को नई राह मिलती है। वस्तुतः ईमानदारी और संतुलित दृष्टि के बिना समीक्षक का दाय स्वीकार करना बड़ा खतरनाक काम हो सकता है।

यह तो हुई आदत की मजबूरी। इधर पत्र-पत्रिकाओं में रंग-समीक्षाओं की प्रवृत्ति का उद्भव हुआ है। सिद्धांतः इस समीक्षा की बड़ी उपयोगिता है। इस प्रवृत्ति का उद्भव इस भावना के साथ हुआ है कि नाट्य-कृति को पढ़ना एक और बात है और उसका प्रदर्शन बिलकुल दूसरी बात। नाट्य की पूर्णता उसके पाठ्य नहीं, अभिनीत स्वरूप में है। इसलिए इस विचारधारा को बल मिला कि जो अभिनीत हो वही नाटक है और अभिनीत नाटक की ही समीक्षा होनी चाहिए क्योंकि वही अपने में सम्पूर्ण है; पाठ्य-कृति अधूरी या आधार सामग्री मात्र है। इस प्रकार नाट्य-समीक्षकों के बीच ही रंग-समीक्षकों की एक और पाँत उठ खड़ी हुई जो इस बात की टोह लगाती है कि नाटक अपनी प्रस्तुति में पूरे रंग-साधनों को किस प्रकार उपयोग में ला पाया है। उनका कहना है कि उनकी समीक्षा एक जीवन्त प्रयोग सी समीक्षा करती है; इसलिए वह श्रेष्ठ है। सच्चा रंग-समीक्षक वह है जो नाटक को दृश्य विधान, अभिनय, रंग दीपन के जीवन्त संदर्भों में देखता है। वस्तुतः रंग-समीक्षक का कार्य एक प्रकार से दुहरा है। एक ओर उससे यह आशा की जाती है कि नाट्यकृति

की साहित्यिक उपलब्धियों से अवगत हो दूसरी ओर ऐसे रंग-तत्त्वों और नाट्य प्रयोग का भी पूरा पारखी होना चाहिए। कला-आन्दोलनों से उसका सीधा परिचय होना चाहिए जिससे वह किसी प्रयोग की महत्ता या घटियापन का आकलन कर सके। संक्षेप में उसे नाट्य और रंग-तत्त्वों, रंगमंचीय इतिहास और विकास की परम्परा, विचारधारा तथा प्रेक्षक की मनोवृत्ति की जानकारी होनी चाहिए। उसका कार्य केवल छिद्रान्वेषण ही नहीं वरन् मार्गदर्शन भी होना चाहिए।

इधर कई परिचालक और रंगकर्मी रंग-समीक्षकों से बहुत दुःखी हैं। नेमिचन्द्र जैन ने 'नटरंग' के पूरे दो अंकों १०-११, १२ में रंग-समीक्षा की समस्याओं को उठाने का प्रयास किया है। उनका विचार है कि रंग-समीक्षा दो कारणों से अपरिहार्य हो गई है, एक तो इसलिए कि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समीक्षा का प्रदर्शन में आने वाले प्रेक्षकों पर सीधा प्रभाव पड़ता है और दूसरे यह कि, सक्रिय उत्साही रंगकर्मियों को प्रोत्साहित करने, उन्हें उनकी जगह दिलाने और कलाहीनता का विरोध करने के लिए भी रंग-समीक्षा एक आवश्यक अवलम्ब है। हमारे देश में रंगमंच की स्थिति देखते हुए इस प्रकार की समीक्षा का और भी महत्त्व है, किन्तु रंग-समीक्षा का कार्य सरल नहीं है। एक ओर रंग-समीक्षक कई प्रभावों से घिरे रहते हैं। स्वयं किसी न किसी मंडली से सम्बद्ध होने के कारण वे पक्षपात की भावना से ग्रस्त होते हैं और उखाड़-पछाड़ में स्वार्थी वर्गों का साथ देते हैं। फलतः रंग-समीक्षक अभिनेताओं, परिचालकों और अन्य कलाकारों की दलगत राजनीति का माध्यम बन जाता है। यह स्थिति इस सीमा तक पहुँच जाती है कि उसका इन शब्दों में जिक्र करना आवश्यक हो जाता है: 'इस बीच दिल्ली के रंग जगत में समीक्षा और समीक्षकों को लेकर अच्छा-खासा वाद-विवाद छिड़ गया जिसने अक्सर आपसी तू-तू मैं-मैं और उखाड़-पछाड़ का रूप ले लिया। विशेषकर निदेशकों और समीक्षकों के बीच इस कारण बड़ी कड़ुवाहट पैदा हुई। दिल्ली के प्रमुख निर्देशकों-संयोजकों ने स्थानीय दैनिक एक संयुक्त पत्र छपाकर अखबारों और पत्रिकाओं के सम्पादकों से माँग की कि उनके प्रदर्शनों की निष्पक्ष समीक्षा मुमकिन न हो तो समीक्षा के स्थान पर प्रदर्शन का विवरण भर छापा जाय। कुछ निर्देशकों ने दैनिक पत्रों के सम्पादकों से पत्र लिखकर या मिलकर इस या उस समीक्षक को हटाने का भी अनुरोध किया। इस सिलसिले में एक गोष्ठी भी हुई······पर उस गोष्ठी में भी लफ्फाजी के साथ या सीधे-सीधे एक दूसरे पर आरोप लगाने से ज्यादा कुछ नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त पिछले महीनों में 'इनैक्ट' में प्रमुख निर्देशकों के साथ जो भेंट-वार्त्ताएँ छपीं, उनमें भी हर एक ने समीक्षकों को बहुत बुरा-भला कहा, किसी-किसी ने तो उनको रंगमच के विकास में रुकावट तक बताया'।[1]

इस प्रकार का पारस्परिक मन-मुटाव समीक्षा के मूल में कहाँ नहीं है?

---

१. नेमिचन्द्र जैन, नटरंग, अंक १२, पृ० ३

समीक्षा चाहे शुद्ध साहित्यिक हो या रंग कार्य से सम्बद्ध, उसमें भाईबन्दी, दोस्ती या इसके विपरीत दुश्मनी को रोक पाना कठिन है। आज समीक्षक दलों वर्गों और नाट्य-मंडलियों में बैठे हुए हैं। रचनाकार होने के नाते उनके पूर्वग्रह बहुत तीव्र हैं। पर जो हालत हमारी नाट्य-समीक्षा की ही नहीं है, वह समस्त रंग आन्दोलन की है। नाट्य लेखन, रंगमंच आदि के क्षेत्र में सर्वत्र ऐसे लोगों की कमी नहीं है। वे सभी—कुछ अपवादों को छोड़कर या तो दोस्ती निभाते हैं या रंगकर्मी की हैसियत, पर और प्रतिष्ठा के दबाव में होते हैं या अपने लाभ के लिए चापलूसी या निन्दा के दुष्चक्र में पड़ते हैं। इस स्थिति के बावजूद नाटककार, रंगकर्मी और समीक्षक के बीच सम्वाद की स्थिति होनी चाहिए। इस समय हमारा रंगमंच एक ऐसे दौर से गुजर रहा है जब तीनों का आपसी सद्भाव उसे एक सही दिशा दे सकता है।

कुछ विद्वान् नाट्य समीक्षक की स्थिति प्रेक्षक से भिन्न नहीं मानते। इस बात में कोई विरोध नहीं है कि प्रेक्षक रंगकार्य का भावक होता है और उसकी भी इसके सम्बन्ध में एक गलत या सही प्रतिक्रिया होती है। कुछ प्रेक्षक जागरूक हो सकते हैं, पर नाटक के मूल्यांकन के लिए मात्र उन पर निर्भर नहीं किया जा सकता। फिर भी प्रेक्षकों का ध्यान आकर्षित करने की क्षमता भी रंगमंच का एक गुण है। वे नाटक और रंगकार्य के प्रति आस्था बढ़ाते हैं। पर समीक्षक का कार्य यह देखना नहीं है कि प्रेक्षक उससे कितना मुग्ध होते हैं।

स्पष्ट है कि चाहे नाटक की साहित्यिक समीक्षा हो या नाट्य प्रदर्शन की रंग समीक्षा, सर्वत्र एक प्रकार की विसंगति घर कर गई है। असल में समीक्षकों को चाहिए कि और गहरे उतरें। नाटक न निरा साहित्य है और न निरा रंगमंच। वह अपनी शब्दार्थमयी योजना में अत्यन्त सूक्ष्म और रंगमंच पर अपने इन्द्रियगम्य प्रदर्शन के रूप में अत्यन्त स्थूल है। पर स्थूलता और सूक्ष्मता का यह समन्वय एक ऐसी विलक्षण नाट्यानुभूति से जुड़ा है जिसकी पहचान केवल ऊपरी सतह से नहीं, वरन् हृदय में बहुत गहरे उतरकर ही की जा सकती है।

समस्त गतिरोधों के बावजूद हिन्दी नाट्य-समीक्षा एक नयी दिशा की तलाश में आगे बढ़ रही है। इसमें नटरंग, इनैक्ट, नाट्य आदि पत्रों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इधर अपने छिटफुट निबन्धों और समीक्षा-कृतियों को लेकर कई लोग आगे आए हैं जिन्होंने हिन्दी नाट्य-समीक्षा को आधुनिकता बोध से समन्वित किया है। इनमें नेमिचन्द्र जैन, मोहन राकेश, गिरीश रस्तोगी, सुरेश अवस्थी, वीरेन्द्र नारायण, कुँवरजी अग्रवाल, कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह, बच्चन सिंह, धर्मवीर भारती, विपिन कुमार, रामस्वरूप चतुर्वेदी, वृजमोहन शाह, लक्ष्मीनारायण लाल आदि उल्लेखनीय हैं।

नई नाट्य-समीक्षा की रंगधर्मिता

धर्म चाहे जिसका हो, कुछ न कुछ बन्धन में बाँध ही देता है। सन्त, मनीषी एक ओर चिल्लाकर बन्धन-मुक्त होने को कहते हैं दूसरी ओर धर्म का भय चहुँ ओर दिखाकर बन्धन में बाँधने का प्रयास भी करते हैं। धर्म की ऐसी व्याख्या की जाती है कि मनुष्य कहीं भी स्वतन्त्र नहीं हो पाता। समाज की अपनी धर्मिता है, साहित्य के अपने रंग-ढंग हैं। साहित्य की कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक आदि अनेक विधाएँ हैं। सबके अपने-अपने धर्म हैं जिनके आधार पर एक को दूसरे से अलग किया जाता है। किन्तु धर्म रूढ़ होकर नहीं रह गया। इसकी प्रवृत्तियाँ युग, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती हैं। नाटक ही को ले लें। कभी दुःखान्त नाटकों की छूत नाटककारों को लग जाती है, कभी दुःख की भावभूमि पर सुख की अवतारणा होने लगती है, कभी सुख की भावभूमि पर दुःखमय अन्त पाठक और दर्शक के मन को तरंगायित कर देता है। एक समय था जब नाटक की रंगधर्मिता पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। जहाँ तक हिन्दी नाटकों का सवाल है भारतेन्दु काल के नाटक-कारों ने रंगमंच को ध्यान में रखा। प्रसाद युग के नाटकों में इसको अनदेखा करने की बात उठ खड़ी होती है। लम्बे-लम्बे कथोपकथन आदि से युक्त मोटी-मोटी नाटक की पुस्तकें रंगमंच के उपयुक्त हो भी नहीं सकतीं। रंगमंच की सीमाएँ तो हैं ही, समय की सीमा भी कुछ कम महत्त्व नहीं रखती।

नई कहानी, नई कविता की तरह नाटक के क्षेत्र में भी नई विचारधारा को अपनाकर क्रांति आई। यह समझा गया कि नाटक को रंगमंच से अलग करके नहीं देखा जा सकता। जहाँ इसको अलग करके देखा जायेगा, वहाँ नाटक का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। रंगमंचीय विशेषता के कारण ही यह साहित्य की अन्य विधाओं से भिन्न दिखाई पड़ता है।

जहाँ साहित्य होगा, वहाँ समीक्षा भी होगी। समीक्षा का क्षेत्र अलग है जिसमें प्रवेश करने से लोग घबड़ाते हैं और उसके बिना चैन भी नहीं मिलती। कसौटी पर खरा उतरने के बाद कृति का महत्त्व अनेक गुणा बढ़ जाने का लोभ भला कौन संवरण कर सकता है! अगर नहीं भी खरा उतरा तो अपनी कुछ त्रुटियों का पता ही चल जायेगा। चलो, यह भी शुभ ही है। पर सभी एक स्वर से अन्तर्मन में बोल उठेंगे—ऐसा शुभ हमें नहीं चाहिए। पर सोचकर देखिए—जिन दो आँखों से हम दूसरे

के चेहरे को देख लेते हैं, स्वयं के चेहरे को ही नहीं देख पाते। नारद की हरि रूप में जितनी दुर्गति हुई, उसका कारण स्वयं को न देख पाना ही तो था।

समीक्षा के द्वारा समीक्षक रचना के गुण-दोष के रूप में अपनी राय साहित्य-कार तक पहुँचाता है और उसका मार्ग-दर्शन करता है। सहमत होना, न होना लेखक की रुचि और बुद्धि पर निर्भर करता है। समीक्षक उसका ध्यान उस ओर मोड़ देता है। जहाँ तक नये नाटक का सवाल है, रंगमंच उसका प्रभावशाली पक्ष है। नये नाटक के समीक्षक को भी उसकी रंगधर्मिता पर विशेष रूप से ध्यान टिका देना पड़ता है। रंगधर्म अपने आपमें व्यापक भावबोध को समेटे हुए है।

आज का नाट्य-समीक्षक नाटक में रंगमंचीय सम्भावनाएँ ढूँढ़ता है। नाटक में रंग संकेत दिये जाने पर भी दृश्यात्मकता, जो नाटक की आत्मा है, गौण हो सकती है। ऐसे भी नाटक मिलते हैं जिनमें दो-दो मिनट पर दृश्य-परिवर्तन अव्यावहारिक हो उठता है। पर्दा उठने और गिरने का कार्यक्रम ही प्रमुख हो जाता है। समीक्षक नाटक में संवेदनाओं, भावों और विचारों के प्रत्यक्ष और दृश्य रूपों के संयोजन की खोज करता है। रंगमंच नाटककार की अनुभूति को अपने सर्जन में उसी रूप में उसी भाव दो दर्शकों तक पहुँचाने का माध्यम बनता है। रंगमंच का जीवन्त क्रियाशीलता में बदल जाना ही उसकी सफलता है। इसी से कहा जाता है कि नाट्य-जगत् की अपनी विशेषता है, रंगमंच जिसका बड़ा ही सशक्त पक्ष है क्योंकि यह भावों को अभिव्यक्त और सम्प्रेषित करता है। चेतना को स्पन्दित करना, ऐन्द्रिय संवेदना को जगाना इसका महान उत्तरदायित्व है।

नया नाट्य-समीक्षक केवल इतना ही पता नहीं लगाता कि नाटक रंगमंचीय है या नहीं बल्कि इस बात पर भी अपना ध्यान टिका देता है कि उसकी सहजता और प्रभावान्विति कैसी है। प्रभावान्विति रंगमंचीय काव्य पर निर्भर करती है। अब प्रश्न उठता है कि रंगमंग का काव्य क्या है ? उत्तर मिलता है कि वह सम्पूर्ण प्रभाव की शक्तिशाली किन्तु ऐकान्तिक लय से उत्पन्न होता है जिसमें लेखक से भावक तक सभी सम्बद्ध होते हैं। सम्पूर्ण प्रभाव और रचनाशक्ति के मूलभूत तत्त्व में लेखक से भावक तक को लयबद्ध करने की क्षमता की खोज करना आज का समीक्षक अपना धर्म समझता है। वह देखता है कि प्रदर्शन के बाद नाटक कितना रंगमंचीय काव्य बन सका। भाषा में साहित्यिकता का आधिक्य भी रंगमंचीय दृश्यत्व को क्षति पहुँचाता है। नाटक की सफलता कथा कहने और साहित्यिक पांडित्य दिखाने में नहीं। उसके होते हुए दिखाने में है। पांडित्य-प्रदर्शन में स्वाभाविकता नष्ट होने में देर नहीं लगेगी।

रंगमंचीय नाटक होने के लिए वैसी ही शैली अपेक्षित है। कथ्य को दृश्यत्व की अनिवार्यताओं और सम्भावनाओं के सन्दर्भ में पकड़ना पड़ता है। दृश्य-योजना मंचीय प्रभावान्विति को बिखराने वाली न हो। नया नाटक विभिन्न रंग-शैलियों का नाटक है। प्रत्येक प्रयोग जीवन की वास्तविकता से उभरा है। इसमें भी कल्पनातत्त्व,

दर्शनतत्त्व के साथ अभिनयात्मिका वृत्ति पाई जाती है किन्तु कल्पना के स्थान पर वाद-विवाद, दर्शन के स्थान पर इतिहास, काव्यात्मक यथार्थ के स्थान पर तर्कपूर्ण यथार्थ इसके दोष हैं। काव्यत्व केवल कथोपकथन का विषय नहीं है, यह नाटक में व्याप्त अभिनयात्मिका वृत्ति में निहित है। इसी गुण के कारण नाटक देखते समय मन के मंच पर हम उसे अभिनीत होते हुए पाते हैं। वाद-विवाद, तर्कपूर्ण यथार्थ काव्यत्व में बाधक हैं, साधक नहीं।

विस्तार, रंगसामग्री गिनाना रंगधर्मिता की अवहेलना है। इसका शक्ति क्षेत्र यथार्थ और कल्पना के समन्वय में है। कथा में घटनाओं की अपेक्षा पात्रों के कार्य तथा उनकी चेतना का विकास संघर्ष और अर्थबोध के सहारे होता है। चेतना का यही धरातल रंगमंच-काव्य का स्रोत बनता है। इससे नाटक में एक लय, एक गति एक रंग की प्रतिष्ठा होती है। बाह्य और आन्तरिक सम्बन्धों से उद्भूत नाटक में रंगमंच की यह उपलब्धि उसे असीम बनाती है।

नाटक को प्रेक्षक तक पहुँचाना रंगमंच का कर्म और धर्म है। इसकी पूर्णता रंगमंच पर निर्भर करती है। प्रारम्भ से ही इसे दृश्य-काव्य कहा गया। इन्द्रादि देवताओं ने इसे खेलने के लिए ही माँगा था। आज का समीक्षक इस बात को ध्यान में रखता है कि नाटक में रंग प्रयोग कथाशिल्प से कहाँ तक जुड़ सका है। उसमें एक प्रयोग बन पाने की क्षमता है या नहीं। आज के नाटककार भी रंगमंच को नाटक का मूल सत्य मानकर रचना कर रहे हैं। उनके नाटक रंगमंच से जुड़े होने के कारण अनुप्राणित और सार्थक दिखाई पड़ते हैं। हिन्दी का रंगमंच विकसित होता ही जा रहा है। इसका कारण है आज के नाटकों का रंगमंचीय होना।

अंग्रेजी का स्टेज रंगमंच के स्थूल पक्ष को व्यंजित करता है किन्तु संस्कृत और हिन्दी का रंगमंच एक स्थान, एक मंडप, एक भवन के अतिरिक्त अनेक गुणों, भावनाओं और स्पन्दनों से भी जुड़ा है। यह प्रेक्षक को ध्यान में रखकर चलता है क्योंकि इसमें प्रेक्षक की सामूहिक मन:स्थिति का योगदान पूर्णतया अपेक्षित है। नाटक के रंगधर्म के आधार पर ही इसे प्रेक्षकों तक पहुँचाया जाता है। समीक्षा की दृष्टि से इधर दस-पन्द्रह वर्षों से महान परिवर्तन आया। अब वह सिद्धान्तों की सीमाओं में बँधा नहीं रह गया। नये प्रयोग, नये प्रतीक, नये भावों और विचारों को रंगमंच पर उतारने की छूट लेखक ने ली और समीक्षक ने दी। नाटक का अर्थ पांडुलिपि मात्र न रहकर मंचीय प्रस्तुति हो गया। इसके अन्तर्गत प्रस्तुति अभिनय और दर्शक के अतिरिक्त उसकी काव्यगत विशेषताओं का मंचीय उद्घाटन आता है। दृश्य क्षमताओं के आधार पर दर्शक जब मन के मंच पर अभिनीत होता हुआ अनुभव करेगा तभी उसकी सफलता है।

रंग-धर्म के अनेक आयाम हैं। नाट्यकृति-रंगमंच के लिए आधार प्रस्तुत करती है। लकड़ी, कैनवस, प्रकाश देशकाल की अनुभूति कराते हैं। दृश्य सज्जाकार जीवन्त दृश्य-बिम्ब प्रस्तुत करता है। प्रकाश व्यवस्थाकार का कार्य पाद-दीप, पुंजदीप,

अनुगामी पुंजदीप, मंदक, अंचल दीप आदि की सहायता से रंगमंच को जगमगाना नहीं बल्कि अवसर के अनुकूल सहज स्वाभाविक दृश्य प्रस्तुत करना है। रूप सज्जाकार रूप को इस प्रकार सजाता है कि वह भावात्मक हो उठता है। उसमें सादृश्य की प्रतीति होने लगती है। अभिनेता के अभिनय को ही ले लें। सम्वादों को ठीक-ठीक बोल देने से ही रंगमंच पर काम नहीं चल सकता। उसे सम्पूर्ण शरीर की भाव-भंगिमा के साथ रंगमंच पर उतारना होता है। सबके अपने-अपने ढंग हैं, कोई आंगिकअभिनय से आन्तरिक अनुभूति तक पहुँचता है और कोई आन्तरिक अनुभूति से बाहरी चेष्टाओं तक। विभिन्न दृश्य सज्जा अभिनेताओं को पृष्ठभूमि ही नहीं प्रदान करती बल्कि आवश्यक वातावरण का निर्माण कर देशकाल की प्रतीति कराती है। पात्र की मन:स्थिति को व्यंजित करती है। वेश-विन्यास भी रंगमंच को पूर्णता प्रदान करने में सहयोगी है।

आज की नई नाट्य-समीक्षा की रंगधर्मिता इसको पकड़कर चलती है कि नाट्यकृति में रंगमंचीय प्रस्तुति का समारम्भ हुआ या नहीं। रंगमंच का सारा विधान नाटक के रचनातंत्र में ध्वनित होता है। नाट्यकृति रंगमंच के लिए आधार प्रस्तुत करती है। उसी आधार पर अभिकल्पक यवनिका, प्रकाश, ध्वनि आदि की योजना बनाता है। कभी-कभी ऐसा पाया जाता है कि रंग व्यवस्थापक की कुशलता और विषय ज्ञान के कारण नाट्यकृति रंगमंच पर अद्भुत सफलता के साथ अवतरित होती है जबकि रंग संकेत के आधार पर वैसी सफलता की सम्भावना नहीं थी। नाटक की प्रस्तुति में एक से अधिक अभिकल्पकों (designers) की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि एक ही व्यक्ति दृश्य-सज्जा, रूप-सज्जा, वेश-विन्यास, प्रकाश-व्यवस्था, ध्वनि-संयोजन आदि में सक्षम हो, ऐसा प्राय: सम्भव नहीं होता। कुल मिलाकर ही अपेक्षित वातावरण और अभिव्यक्ति की सृष्टि होती है। रंगमंच की पूरी कला सत्याभास की कला है। प्रेक्षक या दर्शक के मन पर यह सम्पूर्ण रूप से प्रभाव डालता है अगर एक ही पर हमारा ध्यान अटककर रह जाता है तो यह सन्तुलन और समन्वय का अभाव कहा जा सकता है।

इधर अनेक नाटकों का मुद्रण और प्रकाशन प्रस्तुति के बाद हुआ। समीक्षक के सामने व्यावहारिक कठिनाई उपस्थित होती है। यह कोई आवश्यक नहीं होता कि समीक्षक ने प्रस्तुति देखी हो। यह भी हो सकता है कि जिसकी प्रस्तुति देखी हो वह किसी व्यवधान के कारण प्रकाशित न हो। सभी प्रकाशित नाटक मंचित हों, यह भी नहीं होता। यह राय दी जा सकती है कि नाटकों की प्रस्तुति का प्रबन्ध हो और समीक्षकों की श्रेणी में जिनको गिना जाता है उन्हें कम से कम प्रस्तुति को दिखाने का अवसर दिया जाय। नाटक की समीक्षा को प्रस्तुति की समीक्षा से जोड़कर ही पूर्णता प्रदान की जा सकती है।

वस्तु के अनुरूप रंगयुक्तियों के प्रयोग द्वारा मूल संवेद्य को सम्प्रेषित करने में नाटककार कहाँ तक सफल हुआ है, कहीं रंग प्रयोग चकाचौंध मात्र उत्पन्न करने

वाला तो नहीं रह गया। अथवा रंगशिल्प दुरूह और एबस्ट्रैक्ट बनकर तो नहीं रह गया। नया नाट्य-समीक्षक यह सब कुछ परखता है और उसका आकलन प्रस्तुत करता है। अपने सर्जन में चेतना के स्तर पर अपनी अनुभूति प्रेक्षकों तक पहुँचाना रंगमंच का धर्म है। बिम्बों के माध्यम से रंगमंच साकार हो उठता है। दृश्य-सज्जा, रूप-सज्जा, वेश-विन्यास, प्रकाश, ध्वनि, अभिनय और सम्वाद आदि का समन्वित रूप ही प्रभावोत्पादक होता है।

नई नाट्य-समीक्षा की रंगधर्मिता उसके यथार्थवादी पक्ष को स्पर्श करने तथा प्राण के स्पन्दन की पहचान में है। रंग-साधनों का समुचित उपयोग प्रस्तुति को सफल बनाता है। आन्तरिक तत्त्व को बाह्य रूपान्तर प्रदान करना। अदृश्य और अश्रव्य को दृश्य और श्रव्य बनाना रंगमंच का बड़ा भारी कर्त्तव्य है।

आजकल पौराणिक चरित्रों को नये मंच पर नये सन्दर्भ में रखकर वर्तमान युग की विडम्बना को उद्घाटित करने की प्रथा चल पड़ी है। रंगमंच की जड़ता, रूढ़ परम्परा को तोड़कर जीवन के यथार्थ को रूपकात्मकता प्रदान की गई। सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रौपदी', 'सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', लक्ष्मीनारायणलाल का 'गंगाभाटी' आदि ऐसे ही नाटक हैं जिनमें जीवनबोध और रंगदृष्टि नवीनता के अनेक सन्दर्भों में सार्थक हैं क्योंकि इनमें मनोवैज्ञानिकता को महत्त्व मिला।

नाटक का साहित्य-पक्ष महत्त्वपूर्ण है किन्तु रंगमंच पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। नये नाटकों की रंगमंच पर सफल अवतारणा देखकर ऐसा लगने लगता है कि निदेशक लेखक से कम सजग भूमिका नहीं अदा करता। दर्शकों के हृदय को झकझोर देना, मथ देना, झूम उठना सहज स्वाभाविक अभिनय पर तो निर्भर करते ही हैं, ध्वनि, प्रकाश, रंग, दृश्य, रूप-सज्जा, वेशभूषा आदि का योगदान अनिवार्य है। प्रश्न उठता है कि क्या नाटक और रंगमंच दो भिन्न अस्तित्व हैं ? इसका दो टूक उत्तर दे पाना कठिन है। दिखाई तो यही पड़ता है कि लेखक नाटक लिखता है और निदेशक उसे रंगमंच पर उतारता है। विचारणीय है कि सम्वाद को रंगधर्मिता से परे रखकर नहीं देखा जा सकता। रंगतत्त्वों का प्राथमिक स्रष्टा नाटककार है क्योंकि रंगमंच पर जीवन के जिस पक्ष को उभारा जाता है, वह उसी की अनुभूति का परिणाम है। नाटककार रंगमंच के प्रति सजग होता है। निदेशक की कुशलता का परिणाम रंगमंच पर नाटक का सहज स्वाभाविक रूप में आना अवश्य है। आज का समीक्षक नये नाटकों में रंगनिर्देश की पूरी-पूरी अपेक्षा रखता है। लेखक नाटक को जिस रूप में प्रस्तुत होते देखना चाहता है, उसकी काव्यात्मकता की रक्षा करना चाहता है, वह तभी सम्भव है जब रंग संकेत देता चले। लेखक जिस घटना, दुर्घटना, परिस्थिति आदि को अपनी रचना का विषय बनाता है, उसकी गहराई में उसे उतरना होगा, स्वयं को समरस कर देना होगा तभी वह सहजता और स्वाभाविकता की रक्षा में सफल हो सकता है। यों तो दर्शक रंगमंच पर किसी नाटक को यह सोचकर ही

देखने जाता है कि यह सत्य नहीं, सत्याभास होगा। सत्याभास के लिए ही जिन नाटकों के विषय पौराणिक कथानकों से जुड़े हैं, लेखकों ने उनके चामत्कारिक अंश को हटाकर जीवन का मनोवैज्ञानिक, यथार्थ जीवन्त चित्र उभारने का प्रयास किया।

वस्तुतः रंगमंच के अतिरिक्त नाटक शब्द मात्र है। नाटक की सार्थकता उसकी सफल रंगमंचीय प्रस्तुति में है। यह सन्तोष का विषय है कि इधर सात-आठ वर्षों से नाटक रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखे जा रहे हैं। भारत में अनेक नाट्य-संस्थाएँ नाटकों का प्रदर्शन भी बड़ी कुशलता और सफलता के साथ कर रही हैं। इलाहाबाद नाट्य-संघ प्रतिवर्ष फरवरी में भारत के विभिन्न क्षेत्रों से आई नाट्य-संस्थाओं को अपने नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत करने का अवसर देता है। सन् १९७८ ग्यारहवाँ वर्ष है जिसमें सत्रह राज्यों से आई हुई अस्सी अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं ने भाग लिया। पन्द्रह सौ कलाकारों ने तेरह दिनों तक चलने वाली लघुनाटक प्रतियोगिता में बड़े उत्साह से भाग लिया। ये नाटक हिन्दी ही नहीं, अन्य भाषाओं के भी होते हैं। प्रोत्साहन के लिए प्रथम आने वाली टीम को एक हजार एक रुपये और 'रनिंग ट्राफी', द्वितीय श्रेणी को पाँच सौ एक और रजत ट्राफी, तृतीय श्रेणी को ३०१ और कांस्य ट्राफी भेंट की जाती है। नाटक में भाग लेने वालों के ठहरने की व्यवस्था 'थियेटर नगर' में होती है जहाँ उनको मुफ्त भोजन और आभास की सुविधा मिलती है। थियेटर नगर हर साल बसता है और उजड़ता है। इससे नाटककारों को नाटक लिखने के लिए प्रोत्साहन मिलता है और निदेशक को रंगमंच पर उतारने की सुविधा प्राप्त होती है। दोनों के सम्मिलित सहयोग से नाटक बड़ी धूमधाम से रंगमंच पर प्रस्तुत हो रहे हैं। समीक्षकों की समीक्षा ने नाटककारों की नई पीढ़ी को नाटक का रूप सुधारने में मदद की। उन्होंने रंगमंच को नाटकों से जोड़कर देखा, छोड़कर नहीं।

आधुनिकता और नाट्यालोचन

औद्योगिक विकास के साथ-साथ जन्मी आधुनिकता वस्तुतः युग-सापेक्ष शब्द है। यान्त्रिक उपलब्धियों, सांस्कृतिक या राजनीतिक उपलब्धियों को और उनसे प्रभावित सारी विचारधाराओं को स्वीकार कर ही आधुनिकता विकसित होती रहती है। लेकिन यह किसी पूर्णता (absolute) की वकालत नहीं करता। यह चिरगतिशीलता का दर्शन है। इसलिए एक काल-खण्ड की आधुनिकता का मूल्य अथवा दृष्टिकोण किसी दूसरे काल-खण्ड के भी होंगे, यह आवश्यक नहीं है लेकिन असम्भव भी नहीं। आधुनिकता की इसी प्रकृति अर्थात् गतिशील या परिवर्तित मूल्य और दृष्टि के कारण ही आज यह विचारणीय है कि वर्तमान आलोचना में आधुनिकता का भाव-बोध किन-किन आयामों में उजागर हुआ है और इसके कौन-कौन से स्तर हैं। वर्तमान आलोचना का भी उद्भव और विकास खड़ीबोली के उद्भव और विकास से माना जाता है, लेकिन आलोचना में आधुनिकता के परिवर्तित मान-मूल्य और दृष्टिकोण नयी कविता के साथ विकसित होने वाली नयी आलोचना में ही पहली बार देखे गए। कविता की आलोचना आधुनिक हिन्दी आलोचना में सबसे प्राचीन है। इसके बाद ही कहानी अथवा उपन्यास की आलोचना का श्रीगणेश होता है। लेकिन नाट्यालोचन आधुनिक आलोचना की सर्वथा नयी उपलब्धि है। इसी कारण नये-नये नाटकों के साथ नाट्यालोचन सम्बन्धी नये-नये प्रश्न उठ रहे हैं।

पिछले दो-ढाई हजार वर्षों से हमारे यहाँ नाट्यालोचन का आधार आचार्य भरत रचित नाट्यशास्त्र रहा है। लेकिन समस्त भारतीय साहित्य अब काव्यशास्त्रीय दायरे से बाहर आ गया है। इसलिए अब नाट्यशास्त्र से लेकर रसगंगाधर तक की पारिभाषिक विवेचनाएँ अत्यन्त सूक्ष्म और समर्थ होने के बावजूद आज के नये साहित्य और मानवीय सम्बन्धों और स्वभाव की समग्र परिभाषा के लिए बहुत बड़ी जमीन छुए बिना छोड़ देती हैं।

नये नाटकों के पूर्व नई कविता, नई कहानी आदि ने ही नये नाटक के आन्दोलन को जन्म दिया और इसके साथ ही एक प्रयोगशील और निरन्तर प्रगतिशील नाट्य-बोध भी विकसित हुआ। नाट्य-बोध की नई शैली में जहाँ नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का योगदान रहा वहाँ पाश्चात्य प्रयोगवादी नाटकवादी नाटककारों का भी भरपूर प्रभाव रहा। इस कारण रचना-धर्म को आधुनिक वैज्ञानिक वस्तुपरकता

से देखने का आग्रह जोर पकड़ने लगा। वस्तुत: किसी भी जीवन्त कला के लिए उसका देश-काल से सार्थक रिश्ता होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए इस रिश्ते की तलाश और पहचान के लिए नये मुहावरे और इसको विवेचना के लिए नये प्रतिमान खोजने और स्थापित करने होंगे। हमारे यहाँ पारम्परिक नाट्य-शैली की सशक्त आधार-भूमि पर पाश्चात्य और वैज्ञानिक आविष्कारों से प्रभावित और प्रेरित जो अभिव्यक्ति दी जा रही है उसमें इस रिश्ते की तलाश और नये मुहावरे की खोज की कोशिश स्पष्ट दिखाई पड़ रही है।

नाट्यालोचन में आधुनिकता का सवाल छठे दशक से ही प्रारम्भ हुआ। लेकिन नये नाट्यालोचन का प्रारम्भ वस्तुत: छठे दशक के उत्तरार्द्ध से ही हुआ। आधुनिक हिन्दी आलोचना अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा कविता की आलोचना से ही विशेष रूप में सम्बद्ध रहा। आधुनिक नाट्यालोचन में तो जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के उत्पन्न अनुभूतियों की मनोवैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक आकलन का सर्वथा अभाव रहा। इस कारण नाट्यालोचन का अधिकांश साहित्यालोचन न रहकर काव्यालोचन मात्र बनकर रह गया। चूँकि अब नाट्यालोचन के लिए पूर्वनिर्मित शास्त्र पूर्णत: उपयोगी नहीं रह गए और सम्यक् नये नाट्य-शास्त्र का निर्माण नहीं हो पाया, इसलिए नाट्यालोचन को काव्यालोचन से अलग करके नहीं देखा गया। इसलिए अब आवश्यकता है कि वैसे नये नाट्यशास्त्र का निर्माण हो जो नाट्यालोचन को साहित्यालोचन से सम्बद्ध कर सके।

सभी साहित्यिक विधाओं की आलोचना के लिए एक ही मानदण्ड कभी भी उपयोगी नहीं हो सकते हैं। हाँ, कुछ ही दृष्टिबिन्दुओं पर थोड़ी-बहुत समानता हो सकती है। लेकिन नाटकों के सन्दर्भ में यह समानता अधिक हो ही नहीं सकती है, क्योंकि नाटक जहाँ दृश्य काव्य है, वहाँ अन्य विधाएँ श्रव्य काव्य के अन्तर्गत आयेंगी। इसलिए कविता या कहानी की जो आलोचना-पद्धति होगी वही आलोचना-पद्धति नाटक की नहीं हो सकती। अत: नाट्यालोचन का नया प्रतिमान गढ़ते समय आधुनिक आलोचना के समक्ष बहुत बड़ा खतरा मौजूद है। यह खतरा इसलिए बढ़ गया है कि आज के नये नाटककारों में अधिकांशत: वे लोग हैं जो नई कहानी या नई कविता के आन्दोलन से सम्बद्ध रहे हैं। इस कारण आलोचना से सम्बद्ध अपने पूर्वाग्रह से ये लोग पूर्णतया मुक्त होकर नाट्य-सृजन एवं नाट्यालोचन के क्षेत्र में उतरे हैं, इसमें सन्देह है। इसलिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि नाट्या-लोचन के सिद्धान्त या प्रतिमान वस्तुत: नाट्यालोचन के कितने हैं और नयी कविता, नयी कहानी या नये उपन्यास के कितने। नाट्यालोचन में आधुनिकता तभी आएगी जब नया नाट्यालोचन अपनी नयी स्थापना को पूर्वाग्रह से मुक्त रखेगा और अपने नये प्रतिमानों को नयी कविता, नयी कहानी आदि के प्रतिमानों से अलग करके देखेगा। नाट्य-सृजन के क्षेत्र में जब ऐसे किसी वाद या आन्दोलन से सम्बद्ध नाटककार आते हैं तो ऐसी सम्भावना को बल मिलता है कि उनकी नाट्य-सृष्टि

उनके पूर्वनिर्धारित मान-मूल्यों के प्रतिपादन के लिए ही है। अत: आधुनिक नाट्या-लोचन इस पहचान को विकसित करता है जहाँ सृजन पूर्वाग्रह से प्रभावित है और आनुसंगिक रूप से किसी नारेबाजी और पक्ष-धर्मिता का कारण बनता है। सृजन के पूर्व ही जब आलोचना के मानों का निर्माण और मूल्यदृष्टि की खोज जोर पकड़ जाती है तो उसके आनुसंगिक प्रतिफलों का अनुमान रचयिता और तथाकथित आलोचकों के मनोविज्ञान के आधार पर ही आधुनिक नाट्यालोचन करने लगता है। यहाँ नाट्यालोचन में आधुनिकता सर्जक और आलोचक के मनोविज्ञान की पहचान और परख से स्वत: सम्बद्ध हो जाती है।

नाट्यालोचन में आधुनिकता का ही यह परिणाम है कि अब नाट्यालोचन को पूरी रंग-प्रक्रिया से जोड़कर देखा जा रहा है। अब यह महसूस किया गया कि नाटक रंगमंच का अविभाज्य अंग है। नाटकोत्पत्ति की प्रचलित कथा में 'दृश्यंश्रव्यं-चयत्भवेत्' का दृश्यत्व रंगमंच पर ही सार्थक होता है। अत: बहुत दिनों के बाद ही आधुनिक नाटकों में काव्यात्मकता के साथ-साथ रंग-व्यवहार्यता आयी है और समा-नान्तर रूप से नाटयालोचन का एक अंग बनकर व्यावहारिक रंगालोचन भी विकसित हुआ है जिसके द्वारा नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों से समृद्ध वर्तमान रंगमंच पर नाटकों के प्रयोग द्वारा शिल्प और शैलीगत आधुनिकता के नये आयामों का उद्‌घाटन किया जाने लगा है। इसलिए नवीन वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न नाट्यालोचन की आधु-निकता एक ओर इस तथ्य से जुड़ी है कि रचनात्मक दृष्टि से काव्य-रूप में किसी नाटक का अलग अस्तित्व है, अलग सृजन-प्रक्रिया है और दूसरी ओर इस तथ्य से जुड़ी है कि प्रत्येक नाटक अपनी मंचीय प्रस्तुतियों में हर बार नयी स्वायत्तता प्राप्त करती है, हर बार नयी अभिव्यक्ति देती है जिस पर निर्देशक के साथ-साथ अन्य रंग-कर्मियों की छाप पड़ी होती है। इस तरह वर्तमान नाट्यालोचन में आधु-निकता की मूल्य-मान-दृष्टि नाटक की सर्जना-प्रक्रिया और नाटक की प्रस्तुति-प्रक्रिया को अलग-अलग कर देखती है। दोनों की पृथक् स्वायत्तता में और दोनों को तब भी नाट्यालोचन के अन्तर्गत ही स्वीकार करती है। इसलिए आज की नाट्य-समीक्षा के दो रूप विकसित हो रहे हैं— एक स्तर पर नाट्य-समीक्षा लिखित कृति की होती है— पूर्णत: काव्यशास्त्रीय और दूसरे स्तर पर यह नाट्य-समीक्षा मंचीय-प्रस्तुति की, अभिनीत नाटक की समीक्षा होती है जो रंगमंच के आधार पर प्रस्तुत की गई व्याव-हारिक समीक्षा होती है। लेकिन दोनों ही समीक्षाएँ एक समन्वित शैली की ओर अग्रसर हैं, प्रस्तुति की रंग-समीक्षा में कृति का काव्यात्मक आधार और काव्य-कृति की सैद्धान्तिक-शास्त्रीय समीक्षा में मंचीयता के तत्त्वों में स्थान दिया जाने लगा है। वस्तुत: नाट्य-प्रदर्शन कई कलात्मक विधाओं के समन्वय से रूपाकार पाता है—इसी-लिए इसे सामूहिक आस्वाद्य की कला भी कहा गया है। तब उनमें प्रत्येक के प्रति समीक्षक की अपनी संवेदनशीलता, समझ और जानकारी आवश्यक है। यह आधुनिकता का ही तकाजा है कि नाट्यालोचन के उद्देश्य, स्वरूप और मानदण्डों का सवाल अब

निरा किताबी नहीं रहा, उसके बारे में सही सोच-विचार आधुनिक रंग-आन्दोलन के लिए एक आवश्यक कार्य है। क्योंकि नाट्यालोचन ही दर्शकों के इस मनोविज्ञान का आधार बनता है कि वह अमुक नाटक देखे या न देखे। नाटक का प्रदर्शन चूँकि एक क्षणजीवी व्यापार है, इसलिए नाट्यालोचक की जिम्मेवारी काफी बढ़ जाती है। २ से ३ घण्टे के भीतर नाटक देखना, उसके अनुभव को आत्मसात करना और अपनी समीक्षा बुद्धि और मूल्य-दृष्टि को भी जागरूक रखना सही नाट्यालोचन के लिए अत्यावश्यक है। इस अर्थ में आधुनिक नाट्यालोचन के लिए नाटक को पढ़ते हुए देखना और देखते हुए पढ़ना यानी पढ़ते हुए सम्पूर्ण रंग-प्रक्रिया से जोड़ना और देखते हुए सम्पूर्ण काव्य-प्रक्रिया या सृजन-प्रक्रिया से जोड़ना आवश्यक है। नाट्यालोचन में यह दृष्टि दिनों-दिन विकसित हो रही है जो आधुनिकता की नवीनतम दृष्टि है। सृजन और प्रस्तुति के इस समन्वय के प्रयास को श्री नरनारायण राय अपने संपादित ग्रन्थों 'हिन्दी नाटक और नाट्य-समीक्षा' वार्षिकी द्वारा सार्थकता प्रदान करने की कोशिश कर रहे हैं।

एक बात स्पष्ट और सर्वग्राह्य है कि जो नाटक नाटकों की स्वीकृत परम्परा को छोड़कर लिखे जायेंगे, उसकी आलोचना भी उस स्वीकृत परम्परा को छोड़कर ही करनी होगी। इस तरह नाट्यालोचन में आधुनिकता का एक रूप वहाँ भी उजागर हुआ है जहाँ इस प्रकार के परम्परा से हटकर लिखे जाने वाले नाटकों की समीक्षा के रूप में एक नयी आकृति-प्रकृति की नयी आलोचना सामने आ रही है। यहाँ आधुनिकता एक ओर नये नाटकों से और दूसरी ओर नयी आलोचना से जुड़ी है। यहाँ आलोचक की एक निस्संग आलोचना-दृष्टि है जिसमें आधुनिकता के मान-मूल्य का तकाजा है और जिसके सामने एक सुदृढ़ नाट्य एवं नाट्यालोचन की परम्परा है तो दूसरी ओर परम्परा से परे नये मान-मूल्यों को स्थापित करने वाली प्रचुर नाट्य-साहित्य का भण्डार भी। आधुनिक नाट्यालोचन की शैली में आधुनिकता के दर्शन वहाँ भी होते हैं जहाँ नाट्यालोचन समकालीन जीवन-चेतना को रसपूर्ण मानकर यह भी मानता है कि नया नाटक हमारी बौद्धिक-चेतना को जगाता है, मन को तुष्ट ही नहीं करता, उसे प्रश्नाकुल भी बनाता है। अंक एवं दृश्य-योजना से उदासीन, नाट्य-संधियों एवं अर्थ-प्रकृतियों से विमुख, नाट्य-वर्जनाओं तथा रस-निष्पत्ति के सिद्धान्तों की अवहेलना कर लिखे जा रहे नाटकों की निन्दा आज नहीं होती, क्योंकि आज के सन्दर्भ में प्राचीन मान-मूल्यों के खोखलेपन और टूटन के प्रमाण स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इसलिए उनकी आलोचना में आधुनिकता की दृष्टि साफ झलकती है। प्राचीन मान-मूल्यों के खोखलेपन और वर्तमान सन्दर्भ में उनकी अनुपयुक्तता को ध्यान में रखकर देखने से आधुनिकता हमें परम्परा और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह और उदासीनता तथा उन्हें प्रतिस्थापित करने की चुनौती में मिलती है। परम्परा और रूढ़ियाँ अपने आपमें कितने भी मूल्यवान और उपयोगी क्यों न हों, आज की परिस्थिति में वर्तमान के 'वास्तव' में उनकी व्यर्थता प्रमाणित करने का प्रयास आधुनिकता से सीधा जुड़ा

है। विद्रोह और प्रतिस्थापन की यह दृष्टि प्राचीन एवं पारम्परिक नाट्यालोचन के मूल्यों को विघटित कर नयी आलोचना को विकसित करने की चेष्टा में आधुनिकता की भंगिमाएँ छिपी-सिमटी हैं। वास्तव में नाट्यालोचन के नये प्रतिमान गढ़ने की दृष्टि के पीछे आधुनिकता की वह दृष्टि है जो हर पुरानी वस्तु को बेकार, अनुपयोगी और समसामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप न होने के कारण उत्पन्न हुई है। यहाँ भी आधुनिकता दो सिरे से जुड़ती है—नवीनता से और प्राचीनता से। आग्रह से और विरोध से। न हर पुरानी चीज बुरी और अनुपयोगी है और न हर नयी चीज अच्छी और उपयोगी है। इसलिए नये और पुराने मूल्यवान आलोचना-प्रतिमान को एकत्र कर एक समन्वित शैली में नये नाट्यशास्त्र गढ़े जाने की चिन्तन-प्रक्रिया में हमें आधुनिकता की वह मूल्य-दृष्टि मिलती है। जो अतिवादी निष्कर्षों की संकीर्णता से नाट्यालोचन को निकालकर एक स्वच्छ और समन्वित भाव-बोध की भूमि पर प्रतिष्ठित करने की दिशा में अग्रसर है।

आलोचना के नाम से फैल रहा प्रदूषण भी वर्तमान नाट्यालोचन को आधुनिकता की एक देन है। आलोचकों के प्रबुद्ध वर्ग में भी दूषित, छिद्रान्वेषी और कलहपूर्ण राजनीति की प्रतिच्छाया के रूप में आलोचना के क्षेत्र में फैल रही पक्षधर्मिता, प्रतिबद्धता और नारेबाजी ने नाट्यालोचन के क्षेत्र में भी प्रदूषण फैलाया है। औद्योगीकरण की देन जिस तरह वायुमण्डल का प्रदूषण है, उसी तरह आलोचना के क्षेत्र में भी कुछ प्रदूषण की स्वीकृति में आधुनिकता की ही स्वीकृति मौजूद है। आलोचकों का प्रतिबद्ध वर्ग नाट्यालोचन के नये प्रतिमान गढ़ने की होड़ में अपने-अपने मान-मूल्यों और खेमें का झण्डा ऊँचा किये रहना चाहते हैं जिनकी कसौटी पर उनकी और उनके खेमे के नाटककारों की रचनाएँ खरी उतरती हों और दूसरे की तिरस्कृत। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि दिल्ली में कुछ समय पहले निर्देशकों और समीक्षकों के बीच कड़वाहट पैदा हो गई और कुछ प्रमुख निर्देशकों और संयोजकों ने स्थानीय दैनिक में एक संयुक्त पत्र छपवाकर अखबारों और पत्रिकाओं के सम्पादकों से माँग की थी कि अगर उनके नाट्य-प्रदर्शनों की निष्पक्ष समीक्षा मुमकिन न हो तो समीक्षा के स्थान पर प्रदर्शन का विवरण ही छापा जाए। इतना ही नहीं, कुछ ने तो समीक्षकों को रंगमंच के विकास में रुकावट तक बताया। इसका प्रतिपक्ष भी है—बाह्य वास्तव और आन्तरिक वास्तव को कृति और कृतिकार के स्तर पर अलगाकर देखने की आलोचना-प्रक्रिया में उसका अस्तित्व सुरक्षित है और इस कारण आधुनिकता की एक सर्वथा नवीन मुद्रा भी सुरक्षित है जिसमें नवीनता उसके नये तेवर को लेकर सामने आयी है। पिछले वर्षों में जो नाटक प्रकाशित हुए हैं, वह हर अर्थ में नये हैं और स्वभावत: इनकी आलोचना में भी नयापन होगा। इस तरह नाट्यालोचन का एक नवीन और आधुनिक दृष्टिकोण होगा जो कृतियों की राह से नये जीवन-मूल्यों के अन्वेषण की दृष्टि से आएगी।

आधुनिकता प्रत्येक युग में प्राचीनता की सहवर्तिनी रहती है, क्योंकि हर नये

आने वाले समय के साथ कुछ पुराना तिरोहित होता है और कुछ नये का आविर्भाव होता है। इसलिए आधुनिकता का भाव-बोध प्राचीनता के तिरोभाव से अनुप्रेरित होता है और नये के आगमन के आभास से दीप्त भी। आधुनिकता का यह सहवर्त्ती भाव नाट्यालोचन के क्षेत्र में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है। आज भी पारम्परिक शैली के और नये नाटक दोनों लिखे जा रहे हैं। और इसलिए दोनों ही शैली की आलोचना भी साथ-साथ चल रही है—शास्त्रीय आलोचना भी और नयी आलोचना भी। लेकिन पारम्परिक शैली में लिखें जाकर भी इन नाटकों में कई अर्थों में नवीनता आई है, जो बड़ा ही सूक्ष्म और मूलतः जीवन-दृष्टि से सम्बद्ध है। इसलिए इन नाटकों की आलोचना में भी आधुनिकता की ओर झुकाव आ गया है।

पाश्चात्य प्रभावों का आत्मीकरण और स्वीकृति नाट्यालोचन को आधुनिकता की ही देन है। सैमुएल, ब्रेख्त, बैकेट, बर्टोल्ड, यूजीन आयनेस्को, ज्याँ जैने, आर्थर अमाडोव, फर्नान्डो आरावेल, हैरोल्ड पिन्टर या एडवर्ड आल्बी आदि विदेशी नाटक-कारों के नाट्य-दर्शन से न केवल आधुनिक नाट्य-सृजन प्रभावित है, बल्कि आधुनि-कता के साथ-साथ जो नवीन नाट्यालोचन की शैली विकसित हुई है उसे भी इसने प्रभावित किया है। आधुनिक नाट्यालोचन बैकेट के 'एब्सर्ड' ड्रामा' और ब्रेख्त के 'एपिक थियेटर' की चर्चा के बिना अधूरा ही समझा जाता है। पाश्चात्य रंगमंच पर तो बैकेट आदि का 'अर्थहीन' या 'विसंगति' का नाटक १९५४ से ही छाया रहा। हिन्दी में यह प्रभाव छठे दशक के उत्तरार्द्ध से ही लक्षित हुआ। अब जब कि पश्चिम में यह नाट्यान्दोलन समाप्त होने को है, हमारे यहाँ इसका विकास हो रहा है। इन पाश्चात्य नाटककारों के प्रभावों का अन्वय और विवेचन आधुनिक नाट्यालोचन का एक अंग बना हुआ है। लेकिन इस प्रभाव के नाम पर अनर्गल प्रयोगों की भी आलो-चना आधुनिक नाट्यालोचन करती है और प्रभाव को उतने ही अंशों में ग्रहण करने पर बल देता है, जहाँ तक वह हमारी बौद्धिकता के अनुकूल पड़ती है और हमारी समस्याओं के निदान के लिए हमारे ही सांस्कृतिक मूल्यों से निदान की खोज पर निर्भर करती है। नाट्यालोचन की इस दृष्टि में पाश्चात्य प्रभावों का बहिष्कार नहीं है, बल्कि एक प्रच्छन्न स्वीकृति है—इस सीमा के साथ कि हम विदेशी उपलब्धियों से प्रेरणा भर लें, उन्हें अपना जीवन-दर्शन न मान लें।

राजनीतिक नारेबाजी का साहित्य में मुखरित होना आधुनिकता को ही संके-तित करता है। आज की राजनीति का सर्वाधिक प्रिय और प्रचलित नारा है समाज-वाद। साहित्य की भी व्याख्या अब समाजवादी आधार और दर्शन पर की जा रही है। नाट्यालोचन के क्षेत्र में समाजवादी आलोचना नाटकों के कथ्य और शिल्प की समाजवादी व्याख्या प्रस्तुत करती है और इस व्याख्या के क्रम में स्वभावतः आलोचना 'आम आदमी' से जुड़ जाती है। आज 'आम आदमी' का सवाल साहित्य में तेजी से उभर रहा है और यह समाजवादी नारा आम आदमी के बीच से ही उठ रहा है। इस कारण आज के नाटकों को 'आम आदमी की तकलीफ का नाटक' कहा जा रहा

है। इसलिए अन्य शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक आधारों पर की गयी समीक्षाएँ तब तक पूर्ण नहीं मानी जातीं जब तक उनका कोई समाजवादी अर्थ न निकलता हो।

आधुनिक नाट्यालोचन में नाटक की भाषा से सम्बद्ध चिन्तन को गम्भीरता प्रदान की गई है। नाटक में संवाद के साथ-साथ अभिनय के चारों अंग भी जुड़े होते हैं। जिन्हें आज 'हरकत की भाषा' कहा जाता है। इस तरह नाटक में एक साथ दो भाषाओं का उपयोग होता है—शब्दों की भाषा का और अभिनय की भाषा अर्थात् 'हरकत की भाषा' का जिससे नाटक एक जटिल भाषा की संरचना करता है। नाट्यालोचन में भाषा के क्षेत्र में आधुनिकता का प्रारम्भ तब होता है जब नाटक की इस जटिल भाषा का सम्बन्ध जीवन की जटिलताओं से जोड़कर दिखलाया जाता है और इसकी स्थापना की जाती है कि नाट्यालोचन की भाषा भी इसी भाँति जटिल होनी चाहिए। तब आवश्यकता इस बात की है कि शब्दकार रंग-प्रक्रिया का अंग बने और इसके भीतर ही शब्द दे जिससे रंगमंच और शब्द अपने आपसी सम्बन्धों को समझ सके।

अन्ततः, १९७० के बाद से आने वाली नाट्य-समीक्षाएँ नाट्यालोचन के बदलते हुए आधुनिक तेवरों को आभासित करने लगी हैं और काव्यपक्ष एवं दृश्यपक्ष को साथ-साथ स्वीकार कर रही हैं। नाट्यालोचन के क्षेत्र में यह आधुनिकता का ही प्रभाव है कि काव्य-कृति के रूप में प्रस्तुत की जा रही नाट्य-समीक्षाओं में दृश्यत्व को और प्रस्तुति की नाट्य-समीक्षाओं में काव्यत्व को स्वीकार किया जाने लगा है। अब आवश्यकता है कि इन समस्त परिवर्तनों का एकत्र समेटकर इस परिवर्तित नाट्य-समीक्षा के मूल्य-बोध को प्रतिमान के रूप में प्रस्तुत किया जाय जिससे आधुनिक नाट्यालोचन के सन्दर्भ में किसी प्रकार की शंका की गुंजाइश नहीं रहे।

संदर्भ ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएँ

(१) अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य—सं० कुमार विमल, श्री हरिमोहन मिश्र का 'नई आलोचना' शीर्षक निबन्ध
(२) नई कविता, नई आलोचना और कला—डा० कुमार विमल
(३) आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच—डा० लक्ष्मीनारायण लाल
(४) आधुनिकता और हिन्दी आलोचना—इन्द्रनाथ मदान
(५) हिन्दी नाटक और रंगमंच : पहचान और परख—इन्द्रनाथ मदान
(६) हिन्दी नाटक और नाट्य-समीक्षा—सं० नरनारायण राय
(७) आलोचना—जुलाई ७३—श्री मदान का निबन्ध
(८) कल्पना—अंक २६५,२७६—भूपेन्द्र कलशी और युगेश्वर का लेख
(९) ज्योत्स्ना—रजत-जयन्ती अंक १९७३ में रामदरश मिश्र का निबन्ध
(१०) सप्तसिन्धु—जून, अगस्त १९७५ अंक—शिवप्रसाद गोयल एवं हरिश्चन्द्र वर्मा का निबन्ध

(११) धर्मयुग—११ मई, २५ मई, १ जून, १५ जून एवं २६ जून १७६५
(१२) नई धारा—अंक ८-६-१६७५ नरनारायण राय का निबन्ध
(१३) छायानट—प्रवेशांक, मार्च-जून १६७६, नेमिचन्द्र जैन और सत्यव्रत सिन्हा का निबन्ध

नाट्य-समीक्षा : आधुनिकता के आयाम

नाट्य-समीक्षा अपने दो प्रचलित रूपों में : नाट्यकृति की समीक्षा व नाट्य-प्रस्तुति की समीक्षा, दृष्टिकोण वैविध्य का अनूठा अध्ययन है। आश्चर्य की बात है कि आधुनिक नाट्य-शैलियों के सभी नामकरण नाट्यालोचकों ने किये हैं पर प्रस्तुतियों में उनके व्यवहार पक्ष का अध्ययन स्वयं रचनाकारों या रंगकर्मियों ने प्रस्तुत किया है। आलेख और प्रस्तुति को लेकर औसत मानदण्ड विकास की संक्रान्ति से गुजर रहे हैं, और इसी समय इस विषय पर विचार करना समयानुकूल तो है ही साथ ही अर्थवान और महत्त्वपूर्ण भी है। नाट्य-प्रस्तुतियों की समीक्षाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने से लगता है उनका स्तर दर्शक-श्रोता की आस्वाद क्षमता को पोषित करने में और धीरे-धीरे आधुनिक नाटकों के प्रति उसकी ग्रहणशीलता को संवर्धित करने के लिए पर्याप्त रूप से विकसित नहीं हुआ है, नाट्य-रचनाओं का शैक्षिक और अध्यापकीय विवेचन नाटक के दृश्यपक्ष की उपेक्षा-सी करता लगता है और कहानी, कविता और उपन्यास के लिए विकसित और प्रयुक्त मानदण्डों के समानान्तर निकष नाटकों के विवेचन और मूल्यांकन के लिए अपना लिये हैं। एक बात फिर भी कहनी होगी कि आधुनिक नाट्यालोचन ने नाटकों की संरचना को समझने की मौलिक दृष्टि विकसित की है। 'नाटक' शब्द के व्यापक अर्थ में उसके रंगमंचीय व्यवहार, दृश्य-श्रव्य सम्प्रेषण और आधुनिक जीवनमूल्यों के सन्दर्भ में उनके रूपायित होने का मूल्यांकन भी नाट्यालोचन की परिधि में आ गया है।

'नाटक' और 'रंगमंच' एक ही परिकल्पना से जुड़ी विधा का संकेत देते हैं। रंगमंच का इतिहास पश्चिम में गिरिजाघरों के 'रिचुअल्स' और इससे भी पूर्व यूनानी 'क्लासिकियत' के अध्ययन में मिलता है तो पूर्व में राज-दरबारों और रंगशालाओं के परिप्रेक्ष्य में सदैव संदर्भित रहा है। सन्दर्भों से मुक्त न हो पाने के कारण ही रंगमंच की स्वायत्तता स्थापित नहीं हो सकी। और एक विधा के नाते दृष्टि समग्रता का विकास भी इसी कारण कुंठित रहा। आश्चर्य की बात है कि 'नाटक' और 'रंगमंच' के एकीकृत इतिक्रम प्राप्त नहीं, लोक-नाट्य का शास्त्रीय अध्ययन न हो पाने का कारण भी यही रहा होगा। साहित्यिक किन्तु 'अनभिनेय' कहकर मंचवेत्ता कई नाटकों की उपेक्षा करते रहे तो अभिनेय किन्तु 'असाहित्यिक' अभिधा के अन्तर्गत कई सफल मंचित नाटकों का मूल्यांकन नाट्य-समालोचकों द्वारा उपेक्षित रहा। सिद्धान्त रूप में

यह मान लेने में आपत्ति भी नहीं उठाई गई कि नाटक खेलने के लिए होते हैं (केवल) पढ़ने के लिए नहीं।

दृव्य-श्रव्य अभिव्यक्ति माध्यमों में मंच पर स्थूल आंगिक अभिनय व अभिनेता की व्यक्तिगत उपस्थिति के कारण नाटक सदैव कलात्मक अभिरुचि के निकटतम रहा है। अभिनटन और अभिनय के माध्यम से कलात्मक अभिव्यक्ति नाटक की मूल परिकल्पना और सर्वस्वीकार्य परिभाषा भी रही है। अभिनव नाट्य-शैलियों और प्रयोगों में एक-एक कर और कई बार एक साथ अभिनय के अतिरिक्त सभी आनुषंगिक साज-सामान और लवाज का परिहार कर दिया गया पर कलाकार की व्यक्तिगत उपस्थिति की अनिवार्यता सदा बनी रही। ऐसा ही अनुभव लेखकीय प्रयोगों से भी होता है। सभी प्रयोग नाट्यवेत्ताओं की प्राचीनतम परिभाषाओं के दृश्य-श्रव्य अंग की सत्ता को इस विधा के सन्दर्भ में नहीं नकारते।

अरस्तू ने अपने शास्त्रीय विवेचन में त्रासदी के दृश्य पक्ष 'ओप्सिस' को छः वर्गीकृत अंगों में से प्रमुख माना है। भरत मुनि के 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' व अरस्तू के अनुकृति (Imitation) में आश्चर्यजनक साम्य है। यद्यपि अरस्तू दार्शनिक अर्थों में और भरत लौकिक अर्थों में 'अनुकृति' का प्रयोग करते हैं। अरस्तू 'अनुकृति' को रचना प्रक्रिया का मूल मानते हैं और भरत अभिनयमूलक नाट्य को किसी अवस्था की अनुकृति मानते हैं। इन दो अलग सन्दर्भों में भी व्यावहारिक साम्य है, 'ओप्सिस' अरस्तू द्वारा 'दृश्य रचना' के लिए प्रयुक्त अभिधा है जो अनुकृति के आग्रह को रंग-मंचीय परिप्रेक्ष्य प्रदान करती है। 'दशरूपक' में धनंजय व 'साहित्य दर्पण' में आचार्य विश्वनाथ नाट्यकला के मंचस्थ व्यवहार का विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय नाट्य-शास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त रंगशालाओं के स्थापत्य स्वरूप पर भी प्रकाश डालते हैं किन्तु समानान्तर रंगमंच के अस्तित्व व विकास का इतिक्रम नहीं मिलता। नाट्य-सिद्धान्तों की भाषा निर्देशात्मक है और अपने कलेवर में सक्रिय रंगमंच का स्पष्ट संकेत देती है फिर भी स्वतंत्र प्रयोगात्मक रंगमंच का इतिहास उपलब्ध नहीं है जिसके अभाव में सिद्धान्त कल्पनातीत होते। रंगशालाओं में नाट्य-प्रस्तुतियों के वर्णन या तो नाटकों में ही सन्दर्भित हैं या अलग से प्राचीन अभिलेखों में उनका विस्तार से वर्णन मिलता है। शायद इसी पुरातन अलगाव में नाटक की साहित्यिकता व रंगमंचकी प्रायोगिकता की आदि कथा है। दूसरी बात नाट्यकृति की साहित्यिक वरीयता की भी है। पुरातन नाट्य-कृतियाँ उपलब्ध हैं, अन्वेषकों ने ईसा पूर्व के यूनानी व संस्कृत नाट्य-कृतियों से भी प्राचीन नाट्य-लेखन के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। मिश्र के सम्राट सिसोस्ट्रियम के काल में ई० पू० २ ६२ व २ ५७, लगभग चार हजार वर्ष पूर्व लिखे नाटक की पांडुलिपि पुरावेत्ताओं के पास है। यही अभी तक प्राप्त प्राचीनतम अवशेष है। इतना ही नहीं इस नाटक की अनुष्ठानधर्मिता की तुलना नाट्यालोचक आधुनिक नाटक 'हेयर' से करते हैं। प्रत्येक दृश्य आधुनिक नाट्यलेखन के सभी तत्त्वों का निर्वाह करता है और रंग-निर्देशों से प्रारम्भ होता है।

रंग-निर्देशों से प्रारम्भ होना ही समानान्तर रंगमंच के अस्तित्व का प्रमाण है। नाट्य-लेखन एक विधा होने के नाते रंगमंच की स्पष्ट कल्पना के साथ जन्मता है। आश्चर्य की बात है कि इसके उपरान्त भी नाटक और रंगमंच के अध्ययन में एक स्पष्ट अलगाव प्रारम्भ से रहा है और अध्येताओं के वंश इस अलगाव की स्वायत्तता का सुख भोगते रहे।

आधुनिक परिणति में भी शैक्षिक विवेचन के प्रतिमान नाट्य-प्रदर्शन समीक्षा के प्रतिमानों से भिन्न होने के साथ एक दूसरे से निरे अपरिचित से भी लगते हैं। फलःस्वरूप 'साहित्यिक-अनभिनेय' और 'अभिनेय असाहित्यिक' का वर्गीकरण नाट्य-समालोचन की सुस्पष्ट पहचान नहीं बन पा रही है। नाट्य-लेखन दोनों के विलगाव को लेकर आलोचक की ओर से आतंकित नहीं है।

नाट्य-समालोचन का ऐतिहासिक सिंहावलोकन करते समय भरत और मध्य-युगीन रस-सिद्धान्तों की दृष्टि-समग्रता सर्वेक्षण का मुख्य पड़ाव होता है। अभिनय के भेदों से लगाकर शब्द प्रयोग व अर्थवत्ता दोनों से स्फूर्त सम्प्रेषण, रससिद्धान्त व रंग-शालाओं का वास्तु स्तर तक का विशद विवेचन इन नाट्य-सिद्धान्तों में उपलब्ध है। यही कारण है कि आज भी नाट्यालोचन की चर्चा करते समय सन्दर्भसूत्र 'नाट्य-शास्त्र' से ही प्राप्त होते हैं। अध्यापकीय समीक्षा इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती है पर यह बराबर लगता है कि नाट्य-शास्त्र का प्रयोजन नाट्य-समीक्षा से कहीं अधिक प्रेक्षक की आस्वाद क्षमता का संवर्धन ही रहा होगा। सूत्र रूप में प्रतिपादित सिद्धान्त विभिन्न व्याख्याओं के कारण अब तक कालजयी रहे हैं। इसी भाषागत वैदग्ध्य के कारण एक लम्बा अन्तराल इन सिद्धान्तों की व्याख्या में व्यतीत हुआ।

लोक नाट्य-शैलियों की सुदृढ़ परम्परा होते हुए भी उनके अध्ययन की उपेक्षा विस्मयजनक है। नाट्यालोचन ने लोक-शैलियों के अध्ययन को कभी एकीकृत नहीं किया। लोक-शैलियों के सन्दर्भ से न कोई स्थापनाएँ की गई न शैली विशेष का शास्त्रीय विवेचन ही किया गया। उन्हें लोक-परम्पराओं के सहारे अपना स्वतन्त्र रूप निर्धारित करने के लिए छोड़ दिया गया। भरत ने भले ही लोक नाट्य-शैलियों की उपेक्षा न की हो पर नाट्यालोचन इतना शास्त्रीय हो गया कि उसका लोकाधार छूटता-सा गया। लोकशैलियों की परिवर्तनप्रियता और प्रयोगशीलता का अध्ययन आज भी रंगमंच के बदलते तेवर को समझने में सहायक हो सकता है। फिर भी नाट्य-सिद्धान्तों की समय-समय पर की गई व्याख्याओं से नये प्रतिमानों के उजागर होने की सम्भावना बनी रही। मध्ययुग के पश्चात् भी अंकेया नाट, यक्षगान, कुटंयट्टम, रास लीला, यात्रा आदि लोक-शैलियों में नाट्य-प्रदर्शन की प्राचीन परम्परा 'अन्तःसलिला' के रूप में देश में प्रवाहित होती रही किन्तु इस प्रवाह व नाट्य-परम्परा के शास्त्रीय स्वरूप के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता अध्येताओं को अनुभव नहीं हुई। इसका एक बड़ा कारण शायद क्षेत्रीय लोकनाट्य-शैलियों की राजनैतिक सीमाओं का होना रहा हो। पारस्परिक सांस्कृतिक सम्बन्धों के अभाव में व भाषायी कठिनाइयों

के कारण संस्कृत में लिखे ग्रन्थ ही प्रतिष्ठापित हो सके, लोकरंग की क्षेत्रीय गति होने के कारण ही उनका अन्तर्क्षेत्रीय प्रसार व उनका अध्ययन सीमित रहा और सर्वसम्मत नाट्य-सिद्धान्तों के समानान्तर कोई विवेचन इन शैलियों के नहीं हुए।

भारतेन्दु युग से नाट्य-समालोचन का सूत्र पुनः प्राप्त होता है। हिन्दी नाट्य-समालोचन के श्रीगणेश का युग सही है। साथ ही रंगमंचीय गतिविधियों के लोकानुरंजन व सम्प्रेषण माध्यम के रूप में पुनर्स्थापित होने का युग भी यही है। हिन्दी के माध्यम से उत्तरी भारत की क्षेत्रीय भाषाओं से ऊपर उठकर साहित्यिक धरातल पर एकीकृत होने का युग भी यही है। एक बार फिर लगा कि सक्रिय रंगमंच गतिविधि ही इस विधा के बारे में गम्भीरतापूर्वक विचार करने के लिए अध्येताओं को प्रेरित करती है। जयशंकर प्रसाद के रूप में हिन्दी को साहित्यिक दृष्टि से जहाँ एक समर्थ और सशक्त नाटककार मिला वहाँ नाटकों में रंगमंच से किसी भी स्तर पर समझौता न करने के आग्रह के कारण साहित्य और मंच के अलगाव की रेखा एक बार फिर गहरी हो गई। नाट्य-रचनाकारों की सर्जन-सीमा पर मंचीय अनुशासन को यदि बन्धन के रूप में न लेकर उसके निर्वाह से नाट्यार्थ विवृत करने और एक सम्प्रेषण माध्यम के रूप में उसके उपयोग की बात उस समय सोची गई होती तो आधुनिक रंगमंच के अनुरूप हिन्दी साहित्य पर्याप्त रूप से समर्थ हुआ होता। ऐसी अवस्था में यदि साहित्यिक उदारता का परिचय देकर इस कलामाध्यम के संरक्षण का दायित्व यदि नाटककारों ने अपने ऊपर लिया होता तो हिन्दी नाटक के सम्यक् विकास का शिलान्यास हो गया होता।

लोकनाट्यों व पारसी नाट्य-प्रदर्शनों के सांस्कृतिक जीवन में बिखरे होने पर भी रंगमंच की स्पष्ट कल्पना नहीं उभर पा रही थी। नाट्य कर्म के प्रतिष्ठित न हो पाने के कारण व नाट्य-सृजन की तुलना में निश्चित रूप से प्रतिष्ठित न होने के कारण सृजनधर्मी नाटककारों की ओर से यह अलगाव मुखरित हो गया। एक लम्बे अर्से तक रंगमंच पारसी नाट्य कम्पनियों व लोकनाट्य मण्डलियों के पेशेवर रंगकर्मियों के भरोसे गतिशील रहा था। प्रदर्शनों में नयनाभिराम रंगपदों के प्रयोग, कर्णप्रिय व लोकप्रिय धुनों और मनोरंजन के उद्देश्य से रूमानी, हास्य और साहसिक कथ्यों का बाहुल्य इस काल में रहा। व्यावसायिकता ने रंगमंच के व्यावहारिक स्वरूप में लोकानुरंजन को प्रमुखता दी और इसी स्वरूप को स्थिर करने के सन्दर्भ में ही प्रस्तुतियों का मूल्यांकन भी किया गया। कलावादी नाट्य-मण्डलियों को इसी काल में अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत रहना पड़ा और ऐसी मण्डलियों की संख्या भी इतनी नहीं थी कि रंगमंच के स्वरूप निर्धारण में उनका निर्णायक प्रभाव पड़ता। व्यावसायिक मण्डलियाँ आत्मसन्तुष्ट स्थिति में पारम्परिक छन्द-विधान में प्रणय-प्रेमाख्यान और लोकवार्ताओं के इर्द-गिर्द नई रचनाएँ बुनती रहीं जो उन मण्डलियों की आवश्यकतापूर्ति, और सहज सफलता के लिए आदर्श व्यावसायिक 'फार्मूलों' की

तरह काम करती रहीं। ऐसी स्थिति में साहित्यिक उपेक्षा आश्चर्यजनक भी नहीं मानी जा सकती।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आधुनिक संवेदनशीलता के विकास के साथ ही विश्व स्तर पर रंगमंच को नई प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। प्रथम महायुद्ध तक पश्चिमी देशों में रंगमंच को एक सशक्त सम्प्रेषण माध्यम के रूप में विकसित करने के प्रयास एक नये उत्साह के साथ प्रारम्भ हुए। इनमें गैरपेशेवर नाट्यकर्मियों व इस लोक माध्यम के समीचीन प्रयोग से, प्रेरित सार्थक अभिव्यक्ति के पक्षधरों का अनुपात अधिक था। देश काल की अनिवार्यताओं के अन्तर्गत साहित्य-सृजन ने रंगमच से निकटतम सम्बन्ध स्थापित किया जिससे रंगमंच के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण संयोग की स्थिति बनी। यह नवजागरण सभी देशों में इस शताब्दी के प्रारम्भ में ही हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय संवेदनशीलता की प्रतिक्रियावश नाट्य-सृजन का स्तर रंगमंच पर हावी रहा। आधुनिक रंगमंच प्रयोगधर्मी संकल्प के साथ प्रारम्भ हुआ और 'संप्रेषण' ही इस संक्रान्ति में एक मात्र निकष रहा होगा। नाट्यालोचन इस स्थिति का साक्षी रहा।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही आधुनिक रंगमंच सम्बन्धी प्रायोगिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। नाट्य-सृजन व रंगमंच के अन्तर्विरोधों के समाप्त हो जाने पर इन सिद्धान्तों के उद्भव में एक पारस्परिक परिप्रेक्ष्य का संबल रहा, फलतः नाट्य-समालोचन के औसत प्रतिमान उपलब्ध होने की सम्भावनाएँ बनीं और इसी लक्ष्य हेतु प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक आधुनिक संवेदन-शीलता का निर्माण प्रारम्भ हो गया था और कलात्मक संवेदनशीलता वैज्ञानिक उत्कर्ष के समानान्तर नवीनतम अवधारणाओं से पोषित होती गयी। यथार्थवादी चित्रण से हटकर यथार्थमूलक 'एस्ट्रैक्शन' की ओर लेखन प्रवृत्त हुआ। यह माना गया कि महान कला 'यथार्थ' पर ही आधारित होनी चाहिए किन्तु सभी द्वारा एक से ऐन्द्रिय अनुभव हेतु दृश्य-श्रव्य बिम्ब बनाना संभव नहीं था। अतः ऐसी बिम्ब रचना के प्रयोग हुए जो यथार्थमूलक होते हुए भी पारम्परिक और स्थूल नहीं थे। इन यथार्थमूलक बिम्बों के संदर्भ सभी द्वारा सहज रूप से पहचाने जा सकते थे। कलात्मक रचना-शीलता के इतिहास में यह एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था। इसी के अनुकूल नाट्य-समीक्षा को भी समायोजित होना पड़ा। रचनाओं में यह परिवर्तन जितना सहज रूप से आया उतने ही स्पष्ट रूप से यह आकस्मिकता समीक्षा में कुछ समय तक मुखरित रही। इसी संक्रमण काल में दृश्य-श्रव्य माध्यम के सबसे महत्त्वपूर्ण आविष्कार सिनेमा ने कला जगत के रचना संसार को आंदोलित कर दिया। विधा की सन्निकटता के कारण सबसे अधिक रूप से रंगमंच ही प्रभावित हुआ फलतः नाट्य-समीक्षा के लिए इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन से समायोजित होने की अनिवार्यता उपस्थित हुई। आज जिस अध्यापकीय समीक्षा की बात हम करते हैं वह शायद इसी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की उपेक्षा करती लगती है।

मूक फिल्में जब भारत में प्रदर्शित होनी शुरू हुईं तो स्वतन्त्रता आन्दोलन से

जुड़ा जनजीवन सांस्कृतिक विरासत को पारसी कम्पनियों व लोक-रंगमंच के भरोसे छोड़ राजनैतिक जीवन से सक्रिय रूप से जुड़ा था। अतः भारत में आधुनिक रंगमंच की कल्पना का उदय स्वातन्त्र्योत्तर काल में ही हुआ, विश्व स्तर पर आधुनिक रंगमंच के उद्भव और विकास की रूपरेखा को पृष्ठभूमि के रूप में समझना समीचीन होगा।

II

फोटोग्राफिक कैमरे के आविष्कार के साथ ही चित्रकला के क्षेत्र में एक क्रान्ति हुई। शारीरिक भंगिमाओं के नखशिख श्रृंगार व प्राकृतिक दृश्यों आदि के चित्रण से रुचि एकाएक उचट गयी। यह कार्य अब कैमरे के माध्यम से अधिक यथार्थवादी, तर्कसंगत, आयामीय शुद्धता व चित्ताकर्षक ढंग से किया जाने लगा। फलस्वरूप यथार्थवादी चित्रण शैली प्रतिष्ठाच्युत हो गई। १८२४ से ही चित्रों के द्रुतक्रम से उपलब्ध दृष्टिभ्रम का अध्ययन होने लगा था। १८९५ में पेरिस में ल्युमियरे बन्धुओं द्वारा प्रथम सिनेमा प्रदर्शन किया गया। इसी वर्ष 'निकल्डियोन' नामक प्रथम व्यावसायिक सिनेमा अमेरिका में प्रारम्भ हुआ। १८९३ में चलचित्र यन्त्र का आविष्कार हो चुका था। १९२३ में १६ एम० एम० की अमरीकी व ८ एम० एम० की फ्रांसिसी फिल्मों का निर्माण प्रारम्भ हो गया। इस आविष्कार व फिल्म माध्यम की व्यापकता ने रंगमंच को सबसे अधिक प्रभावित किया। यथार्थवादी शैली कलाकारों की मंच पर साक्षात् उपस्थिति के कारण अपना महत्त्व बनाये हुए थी। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दो महायुद्धों की विक्षिप्त मानसिकता में सृजनधर्मी रचनाकारों ने जीवन के अनिश्चित, निस्सार और ऊलजलूल होने का सबसे तीखा एहसास किया। रंगमंच पर प्रयोगधर्मिता और नाट्य-दर्शन के भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित हुए।

आधुनिक नाट्यशास्त्रियों में कान्स्टेनटाइन स्ताँस्लावस्की (१८६३-१९३८) का स्थान प्रमुख है। रूस में विश्व प्रसिद्ध 'मास्को आर्ट थियेटर' के संस्थापक और नाट्य-प्रशिक्षण के प्रणेता स्ताँस्लावस्की की सक्रिय कला साधना व सैद्धान्तिक रंगचेता दृष्टिकोण इस विधा को समझने-समझाने में सर्वाधिक विशुद्ध और संयत था। मेक्सिम गोर्की ने उनके कार्य को ऐतिहासिक उपलब्धि कहा। एक स्वायत्त निर्माता के रूप में नाट्य निर्देशन प्रारम्भ कर वे शीघ्र ही अभिनय के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अध्येता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। अभिनेता की रचनात्मक मनःस्थिति और उसके घटक तत्त्व अन्तःप्रेरणा के प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया उनका प्रिय विषय रही। यान्त्रिक मंचीय व्यवहार और प्रतिभा पर अतिशय निर्भरता के विपरीत वे भावों, भावनाओं की सत्यता, उसके प्रति कलात्मक संवेदनशीलता और अभिव्यक्ति के लिए आतुर आन्तरिक उद्वेलन को अधिक महत्त्व देते थे। अभिनेता दृश्यबन्ध, रूप-सज्जा व वेश-भूषा को बाह्य असत्य मान सकता है किन्तु रचनात्मक अन्तःप्रेरणा का प्रभाव प्रारम्भ होते ही वह असत्य कलात्मक यथार्थ में परिवर्तित होने लगता है। अभिनय में वे अभिनेता की आन्तरिक रचनात्मक प्रेरणा का आह्वान करते हैं। 'भावात्मक संस्मृति' (Emotional Memory) के प्रयोग से अभिनय में प्रभावोत्पादकता उपलब्ध करने

का सिद्धान्त स्ताँस्लावस्की का मौलिक सिद्धान्त है यद्यपि इसका लोकप्रिय नामकरण डेविड मेगरशेक द्वारा उनकी पुस्तक 'स्ताँस्लावस्की : ए लाइफ' में किया गया।

स्ताँस्लावस्की के 'चरित्र को आत्मसात् करने की अभिनय पद्धति' के ठीक विपरीत पड़ती हैं बर्टोल्डब्रेख्त (१८९८-१९५६) का 'ए-इफेक्ट अर्थात् अभिनेता का चरित्र से अलगाव' जो उनके 'एपिक थियेटर' की विशेषता हैं। अलगाव का प्रभाव दर्शक को सामाजिक दृष्टिकोण से नाट्य-व्यवहार की रचनात्मक समीक्षा करने की अनुमति देता है। नुक्कड़ नाटकों में दर्शक-श्रोताओं में से ही चरित्र उभारने की आशु संरचना पद्धति ने अलगाव को अवश्यम्भावी परिणाम के रूप में उपलब्ध किया जब कि रंगमंच पर सुपरिभाषित चरित्र की कल्पना ब्रेख्त के पूर्णांकी नाटकों में भी है।

दोनों पद्धतियाँ पारम्परिक अभिनय कला को सुव्यवस्थित करने, विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने व प्रयोगधर्मी होने में समानान्तर हैं। इन्हीं पद्धतियों ने रंगमंच को गम्भीरतापूर्वक लेने की अनिवार्यता को रेखांकित किया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से प्रथम महायुद्ध स्ताँस्लावस्की और दोनों महायुद्धों के बाद तक ब्रेख्त का सक्रिय योगदान रंगमंच से सम्बन्धित सभी धारणाओं को विश्व स्तर पर आन्दोलित करता रहा और यही युग रंगमंच में आधुनिक संवेदनशीलता व संरचना के अध्ययन का युग रहा। इसी युग में प्रायः सभी प्रमुख देशों में नये नाट्य-सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। इन सभी नाट्य-सिद्धान्तों के मूल में प्रयोगधर्मिता स्पष्ट दिखायी देती है।

फ्रांस में एडोल्फ ऐपिया ने तथ्यात्मक की अपेक्षा भावात्मक गति के कारण संगीत को मंच पर पुनः स्थापित किया। 'प्रभावोत्पादकता' ऐपिया के नाट्य सिद्धान्त का मूल मन्त्र है। १८९५ में फ्रांस में व १८९९ में जर्मनी में ऐपिया के सिद्धान्तों का प्रचार हुआ। ऐपिया की दो पुस्तकों—'ला मिजे ओं सीन द्यू ड्रामे वेग्नेरियन' (विग्नर के नाटकों के दृश्यों में संगीत और दृश्यबन्ध) व 'म्यूजिक एण्ड स्टेज सेटिंग' (संगीत व मंच-सज्जा) में नाट्य-सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रस्तुत किया गया। प्रकाश और मंच-सज्जा के बारे में व्यापक सैद्धान्तिक विवेचन का प्रायोगिक उपयोग फ्रांस व जर्मनी के रंगमंचों पर हुआ। एन्टोनिन आर्टाउड (१८९६-१९४८) फ्रांस में दो महायुद्धों के बीच 'आवागार्दे' (हारावळ) रंगमंच के संस्थापक माने जाते हैं। दृश्य-बिम्बों में स्थूल व वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से अधिकतम संप्रेषणीयता उपलब्ध करने के साथ रंग आहार्य में आधुनिक पोशाकों का निषेध आर्टाउड ने इस तर्क के साथ किया कि पारम्परिक वसनसज्जा में अनुष्ठानधर्मिता व परम्परा से निकटता के कारण यह अधिक प्रभावी होती है। मंच और प्रेक्षक दीर्घा के बीच के अन्तर को मिटाकर एक-दृश्य अभिनय-क्षेत्र की कल्पना आर्टाउड की मौलिक देन थी। फ्रांस में 'थियेटर आफ क्रूअल्टी' (क्रूरता का रंगमंच) का सैद्धान्तिक विवेचन भी आर्टाउड ने प्रस्तुत किया।

गोर्डन क्रेग (१८७०-१९६६) ने निर्देशक के दायित्वों को पहली बार परिभाषित किया। नाटककार की रचना को अंग-संचालन, शब्द, सम्वाद, रंग और लय

में ढाल देने के पश्चात् नाट्यकृति आलेख से स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर हो जाती है। शेक्सपियर के नाटकों का विश्लेषण वे अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ ही दृष्टान्त के तौर पर करते हैं। जॉन गिलगुड के रूप में एक निर्देशक-नाट्यालोचक व्यक्तित्व रंगमंच को पहली बार प्राप्त हुआ। यह व्यक्तित्व साहित्य और रंगमंच के निकटस्थ सम्बन्ध का प्रतीक है।

आधुनिक संवेदनशीलता ने प्रत्येक विधा को स्वयं से प्रश्न करने को प्रवृत्त किया है। इस प्रक्रिया का रंगमंच सम्बन्धी व्यवहार एक रुचिकर अध्ययन है। नाटक क्यों? कैसा? किसके लिए? आदि प्रश्न मंच पर अभिनेताओं द्वारा बहस के रूप में नाट्य-प्रदर्शनी का अंग बन गये हैं। ऐसी परिचर्चाओं का उद्देश्य विधा की समसामयिक परिभाषा और पहचान कायम करना तो था ही साथ ही नाट्य-समीक्षा हेतु महत्त्वपूर्ण मुद्दे उठाना भी था। नाटक के माध्यम से ऐसी चर्चा की शुरुआत लिग्वि पिराण्डेलो (१८६७-१६३६) इटली के प्रसिद्ध नाटककार के नाटक 'सिक्स कैरेक्टर्स इन सर्च आफ एन आथर' से हुई। पिराण्डेलो यह मानते थे कि 'अनुभूति' विचार की अपेक्षा रचनाकार द्वारा की गयी स्वयं की रचना की समीक्षा पर अधिक हावी रहती है। 'अनुभूति' और 'प्रेरणा' ही रचना को प्रभावित करते हैं अतः रचनाकार स्वयं के समीक्षक की भूमिका निभाता हुआ अच्छी रचना नहीं दे सकता। वैसे ही अभिनेता अपनी भूमिका की निर्लिप्त समीक्षा करते हुए भूमिका को आत्मसात् नहीं कर सकता। उसे भावना-उद्भूत अनुभूति को एकाएक हृदयंगम करना होता है। ऐलानोरा ड्यूज, एक सुप्रसिद्ध इतालवी अभिनेत्री, के संदर्भ से पिराण्डेलो ने कई महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ कीं। एक नाटककार द्वारा एक अभिनेत्री के रंगकर्म की व्याख्या करते हुए आधुनिक रंगमंचविषयक चिन्तन करना अपने आप में 'नाटक' और रंगमंच' के अविभाज्य अस्तित्व को प्रतिपादित करना है। एलानोरा ड्यूज का अभिनय किसी गहरे पानी की सतह की तरह था जिसकी सतह शान्त होते हुए भी हवा के हल्के से झोंकों के प्रति संवेदनशील होती है। इतालवी रंगमंच पर आधुनिक मंच-शैलियों के पदार्पण की भूमिका पिराण्डेलो एलानोरा ड्यूज की अभिनय क्षमता, जिज्ञासा और चरित्र को आत्मसात् करने की सौन्दर्यशास्त्रीय व्याख्या की पंक्तियों के बीच करते हैं। आंगिक अभिनय की पारम्परिक भंगिमाओं से आगे बढ़कर अभिनय १८७० व १६०० के बीच लिखे गये यूरोपीय नाटकों से नयी अपेक्षाएँ करने लगा था। अभिनय 'गति की कला' के रूप में विकसित होने लगा था। पिराण्डेलो यहाँ तक कहते हैं कि एलानोरा ड्यूज ने अभिनय की वे ऊँचाइयाँ तय कर ली थीं कि उस युग के नाट्यलेखन के उसके अनुरूप न हो सकने को इटली के सांस्कृतिक इतिहास की दुःखान्तिका कहा जाना चाहिए।

इंग्लैंड में इसी समय बर्नार्ड शॉ (१८५६-१६५०) ने यथार्थवादी नाटककार की भूमिका को परिभाषित किया। इससे समकालीन नाट्य-समीक्षा के नये आयाम उजागर हुए। नाट्य-समीक्षकों के रंगमंच सम्बन्धी सीमित किताबी ज्ञान का उन्होंने

उपहास किया। वे कहते हैं, 'अपने अवास्तविक ज्ञान की वास्तविकता के बारे में कोई इतना निश्चिन्त नहीं रहता जितना व्यापक रूप से साहित्यकार वर्ग व विशेष रूप से नाट्य-समीक्षक'। अपने नाटकों की समीक्षाओं का पूर्वानुमान करते हुए उन्होंने अपने नाटकों की भूमिकाओं, जिनमें कई भूमिकाएँ नाटकों से भी लम्बी हो गयी हैं, के माध्यम से नये प्रतिमान उभारने का प्रत्यन किया। नोर्वे के नाटककार इब्सन के संदर्भ से उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लक्षित किया : अभिनेता की धारणा कि यदि वह स्वार्थी व्यवहार वाली भूमिका निभा रहा है तो वह खलनायक है और यदि निःस्वार्थ, सैद्धान्तिक और समर्पित व्यवहार करता है तो नायक, पहली बार खण्डित हुई। नाट्य-समीक्षा में इसके समानान्तर परिवर्तन अवश्यम्भावी हो गये।

जर्मन नाट्यशास्त्री रिचर्ड वेग्नर (१८१३-१८८३) एडोल्फ ऐपिया के गुरु माने जाते हैं और पाश्चात्य नाट्यालोचन में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके नाट्य-सिद्धान्तों के बारे में अनोखी और मौलिक बात यह है कि वे मानते हैं कि रंगमंच के प्रायोगिक अनुभव से ही नाट्य-सिद्धान्त प्राप्त होते हैं न कि स्वतन्त्र चिन्तन से। अपने ही विचारों की आत्मकथा 'अ कम्यूनिकेशन टू माई फ्रेण्ड्स' में वे अपने सिद्धान्तों के विकास के पूर्व के अपने प्रायोगिक अनुभव का उल्लेख करते हैं। १८४८ की जर्मन क्रान्ति के समय उन्होंने कला से सार्वजनिक जीवन के सम्बन्ध को परिभाषित करने का प्रयास किया। ओपेरा के सम्बन्ध में उन्होंने लोक-संगीत की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उनके अनुसार आधुनिक (पाश्चात्य) नाटक दो स्त्रातों से जन्मता है। शेक्सपियर के नाटकों की रूमानियत से और रेसिन की यूनानी त्रासदी की भौंडी अनुकृति से। वे मानते थे कि रूमानी कथ्य नाट्यविधा को पूरी तरह रास नहीं आते और यही कारण है कि शेक्सपियर के नाटकों की संरचना की परम्परा नहीं बन सकी। मिथक चक्रों से लिये गये कथ्यों और पात्रों के सशक्त होने में उन्हें कोई संदेह नहीं था। रंगमंच पर प्रत्येक गतिविधि को भावात्मक अभिनय से पोषित करने के प्रयोग उन्होंने किये। जब भी रिचर्ड वेग्नर रंगमंच की बात करते हैं उनकी धर्मतुल्य आस्था और निष्ठा इस विधा के प्रति प्रगट होती है। उनका विचार था कि आधु-निकतम अर्थों में रंगमंच को एक आधार तैयार कर लेना चाहिए जिस पर भविष्य के सभी परिवर्तन निर्भर कर सकें।

इंग्लैण्ड में डब्ल्यू० बी० येट्स (१८६५-१९३९) ने रोम्याँ रोलाँ की फांसिसी रंगमंच प्रयोगों पर लिखी गई पुस्तक से शीर्षक लेकर 'अ पीपुल्स थियेटर' की कल्पना की। प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि येट्स द्वारा अपने मित्रों के साथ 'ऐबी थियेटर' में किये गये प्रयोगों के हवाले से ही उन्होंने इस कल्पना का विवेचन किया। लोकाधार पर शेक्स-पियर के राजा-रानी विषयक नाट्य-कथाओं को अस्वीकार करते हुए नाटकों के कथ्य और व्यवहार में उन्होंने लोकप्रिय कल्पना के आधार की कल्पना की। वे आम आदमी के जीवन को मंच पर प्रस्तुत करने की बात करते हैं। "प्रेक्षक को रचनाकार की

कल्पना स्वच्छ शीशे की भाँति दिखायी देनी चाहिए, किसी धुएँ की कालिख से कतराये चिराग की तरह नहीं।''

अन्य नाट्यशास्त्रियों में ऐमिल जोला (१८४०-१९०२) ने 'नेचुरलिज्म' व 'मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व' को मंच के संदर्भ में परिभाषित किया। डेन महाशय ज्यार्ज ब्रे ण्डीज (१८४०-१९२७) के प्रकाशित व्याख्यानों का प्रभाव इब्सन जैसे रचनात्मक साहित्यकार पर भी पड़ा। इब्सन ने इस प्रभाव को एक पत्र लिखकर स्वीकार किया और यहाँ तक कहा कि इन व्याख्यानों ने उन्हें बेचैन कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों व साहित्यिक आन्दोलनों पर टिप्पणी करते हुए वे सामाजिक धारणा में आमूल परिवर्तन का आह्वान करते हैं। हंगरी के नाट्य-समीक्षक ज्यार्ज ल्यूकास (जन्म १८८५) ने 'आधुनिक नाट्य के समाजशास्त्र' पर विचार प्रस्तुत किये जिनमें आधुनिक नाट्य को 'बुर्जुआ' करार दिया। इसके साथ ही उन्होंने लिखित और मंचित नाटकों में अन्तर-पारस्परिक सम्बन्धों में 'अभिजात्य' साम्य का सर्वेक्षण किया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से प्रारम्भ होकर बीसवीं सदी के पूर्वार्ध के अन्त तक रंगमंच का केन्द्र अस्थिर रहा और विभिन्न विवेचनात्मक व शोधपरक अध्ययनों से नाट्यविधा के आधुनिक संदर्भ तलाशने का क्रम चलता रहा। इसी बीच कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ हुईं जो आधुनिक रंगमंच के क्रियामक तत्त्वों के रूप में आधुनिक रूप में नाट्य-समीक्षा का अपरिहार्य अंग बन गई हैं। इस दौर के अन्त में नाट्य-समीक्षा के प्रतिमानों में पुनर्समायोजन आवश्यक हो गया। समूची विधा के तेवर बदल जाने पर नाट्य-समीक्षक का पारम्परिक शास्त्रीय अस्तित्व प्रभावित होना ही था। इधर समानान्तर वैज्ञानिक उपस्कर रंगमंच के प्रायोगिक पक्ष को प्रभावित कर रहे थे। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के अन्त तक विश्व में सिनेमाघरों की संख्या एक लाख तक पहुँच गई थी। अमेरिका में अनुमानतः दस करोड़ व ब्रिटेन में तीन करोड़ सिनेमा प्रेक्षकों की साप्ताहिक तादाद हो गई थी। फिल्म एक नयी विधा होने के साथ-साथ व्यावसासिक भी थी अतः उसमें प्रयोगों के माध्यम से एक सुग्राह्य स्तर बनाने की ललक प्रारम्भ में प्रेरक और प्रभावी रही। फिल्म का क्षेत्र भी व्यापक था व श्रेष्ठता (Perfection) उपलब्ध करने के माध्यम प्रचुर थे। परिणामतः प्रेक्षक सहज रूप से इस नये संप्रेषण माध्यम की ओर आकृष्ट हुआ। साथ ही उसने प्रदर्शनकारी कलाओं के बारे में अपनी धारणाएँ विकसित करना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि इन धारणाओं का उद्देश्य नाटक जैसी पारम्परिक प्रदर्शन कला के सन्दर्भ में अपनी तुलनात्मक बुद्धि से संशोधन करना ही रहा होगा और इनका केन्द्र तो अभिनेता था ही फिर भी इस तथ्य का व्यापक प्रभाव फिल्म रंगमंच के उभयनिष्ठ प्रेक्षक के माध्यम से नाट्य-समीक्षा पर भी निश्चित रूप से पड़ा।

यहाँ उल्लिखित नाट्यशास्त्रियों व सिद्धान्तों में ऐतिहासिक क्रमबद्धता को विशेष उद्देश्य से दूर रखा गया है। इस सर्वेक्षण का उद्देश्य विभिन्न देशों में आधुनिक रंगमंच के विकास के समानान्तर विकसित सैद्धान्तिक पक्ष का संक्षिप्त

वर्णन है। कोई भी क्रमबद्धता एक छद्म विकास की रूपरेखा-सी लगती। इन सभी सिद्धान्तों में जो बातें समान और समानान्तर हैं वे ही आधुनिक नाट्यालोचन का आधार बन सकती हैं। दूसरी बात, इन सिद्धान्तों के प्रतिपादन से सुव्यवस्थित समीक्षक-दृष्टि का विकास भी होता है। नाट्य-समीक्षा नाट्यालोचन व महत्त्वपूर्ण नाट्य सिद्धान्तों से ही पोषित होती है।

III

इन नाट्य-सिद्धान्तों के समानान्तर पाश्चात्य नाट्य-समीक्षा के बदलते तेवर सहज ही दृष्टिगत होते हैं। प्रसिद्ध आलोचक व साहित्यिक इतिहासकार ए० सी० वार्ड ने अपनी पुस्तक "स्पेसिमेन्स ऑफ इंगलिश ड्रेमेटिक क्रिटिसिज्म" में सत्रहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी १९४५ तक विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में छपी नाट्य-समीक्षाओं का संकलन किया है जो नाट्य-समीक्षा के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। भूमिका में वार्ड लिखते हैं : "अब तो नाट्य-आलोचना में यह एक फैशन बन गयी है कि हर समीक्षक पहले एक नाट्य-सिद्धान्त विकसित करे और उसके पश्चात् उसके प्रतिपादन के लिए प्रमाण रूप में उदाहरणों का समायोजन करे। यह अरस्तू की पद्धति नहीं थी। वे (deductive) आलोचक थे।" १. साथ ही वे यह भी कहते हैं कि अरस्तू आधुनिक सन्दर्भ में जहाँ असफल होते हैं वह वह स्थल है जहाँ वे अभिनय और मंचन को अपने नाट्यालोचन में बहुत कम स्थान देते हैं। २. भारतीय नाट्यालोचकों ने विलियम हेजलिट को प्रथम आधुनिक नाट्य-समीक्षक माना है। ३. जबकि वार्ड क्लीमेंट स्काट व विलियम आर्चर को उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दो दशाब्दियों के लोकप्रिय नाट्य-समीक्षक मानते हैं। क्लीमेंट रंगमंच पर यथास्थिति के समर्थक रहे पर आर्चर को रंगमंच पर नये युग की शुरुआत का अधिवक्ता माना जा सकता है। नाट्य-समीक्षा पर साहित्यिक पूर्वाग्रह तब भी हावी था किन्तु नाटक के मंच पर रूपायित होने के रचनाक्रम में वास्तविक अभिरुचि का भी विकास होने लगा था। यह स्वीकारा जाने लगा था कि नाट्य-विधा रंगमंच पर ही प्रगट होती है, नाटककार के मस्तिष्क में उसका बीजारोपण भले होता हो। अतः आलेख को मंचन के अनुपात में वरीयता देने का कोई कारण नहीं हो सकता था। 'सेटर्डे रिव्यू' जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका के नाट्य-समीक्षक पद से विदा लेते समय बर्नार्ड शॉ ने कहा, "एक नयी पीढ़ी दस्तक दे रही है, और जब मैं दरवाजा खोलता हूँ तो अतुलनीय और प्रखर मेक्स बीरबोहम प्रवेश करते हैं।" मेक्स बीरबोहम शॉ के पश्चात् 'सेटर्डे रिव्यू' के नाट्य-समीक्षक नियुक्त हुए और नाट्य-समीक्षकों की नयी पीढ़ी का सच्चा प्रतिनिधित्व करते रहे।

१८९० के आस-पास हुए महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को ध्यान में रखा जाय तो नाट्य-समीक्षाओं की आधुनिकता का रुचिकर अध्ययन किया जा सकता है। पाश्चात्य नाट्यलोचन के विस्तृत अध्ययन का उद्देश्य कोई पूर्वाग्रह कदापि नहीं है, केवल नाट्य-समीक्षा के क्रमबद्ध व आधुनिक सूत्र की तलाशमात्र है। इसी सूत्रबद्धता में नाट्य-

समीक्षा की आधुनिकता के आयाम उजागर होंगे। वार्ड द्वारा संकलित पुस्तक में से कुछ समीक्षाओं का अध्ययन ही यहाँ अभीष्ट है।

किलमेंट स्कॉट को आधुनिक रंगमंच के संक्रमण में नाट्य-समीक्षा के सन्दर्भ में प्रथम साक्षियों में से माना जा सकता है। १४ मार्च १८९१ को 'डेली टेलिग्राफ' में प्रकाशित इब्सन के नाटक घोश्ट (प्रेत) के १३ मार्च के प्रदर्शन की समीक्षा में मंच सापेक्षता नहीं है अपितु प्रेक्षक दीर्घा सम्बन्धी जानकारी का समावेश भी उसमें किया गया है। इब्सन की आलेख-गत विशेषताओं का हवाला देते हुए और उनके नाटकों के बारे में साहित्यिक आलोचना की धारणा का उल्लेख करने के पश्चात् वे लिखते हैं, "परन्तु पिछली रात अभिनय ने, और केवल अभिनय ने ही, सम्पूर्ण अभिरुचि जो देखी गयी, का निर्माण किया।" नाट्य-समीक्षा में अभिनय का स्वतन्त्र मूल्यांकन व निर्मिति में उसके निर्णायक योग-दान के अध्ययन की भूमिका उसी समय बनने लगी थी। चरित्रों के रूपायन का वर्गीकृत अध्ययन कलाकारों की व्यक्तिगत प्रतिभा के सन्दर्भ में किया गया है। इन्डिपेंडेंट थियेटर के संस्थापक और एकमात्र व्यवस्थापक श्री जी० टी० ग्रेन ने प्रेक्षकों से, प्रदर्शन के अन्त में अपनी संस्था को ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा मान्यता प्रदान करवाने के कार्य में सहयोग की अपेक्षा की। एवेन्यू थियेटर में २१ अप्रैल १८९४ को शॉ के नाटक "आर्म्स एण्ड द मेन" का प्रदर्शन हुआ। २५ अप्रैल, ९४ को 'द वर्ल्ड' पत्रिका में विलियम आर्चर की नाट्य-समीक्षा प्रकाशित हुई। समीक्षा के प्रारम्भ में ही वे कहते हैं "मैं बहुत पहले ही स्वयं को इस बात पर सन्तुष्ट कर चुका हूँ कि शॉ नाटक नहीं लिख सकते।"

बर्नार्ड शॉ के साथ अपनी मित्रता और रचनात्मक स्पर्धा को व्यक्त करने के पश्चात् आर्चर नाटक और प्रस्तुति की गम्भीर-समीक्षा प्रस्तुत करते हैं और तब अपनी व्यक्तिगत भूमिका से समीक्षक की दायित्वपूर्ण भूमिका में प्रवेश करते हुए उस अंश को स्पष्टतया अलग कर देते हैं। कथ्य के सन्दर्भ में चरित्रों की व्याख्या समीक्षा का अधिकांश है। अन्तिम अंश में अभिनय पर अलग से समीक्षात्मक टिप्पणी की गयी है। २ अक्टूबर १८९७ को सुप्रसिद्ध अभिनेता फोर्बेज रोबर्टसन द्वारा अभिनीत 'हेमलेट' की समीक्षा शेक्सपियर के नाटक के आधुनिक मंच पर प्रस्तुति की समीक्षा होने के कारण महत्त्वपूर्ण है। यह समीक्षा बर्नार्ड शॉ द्वारा 'सेटर्डे रिव्यू' के लिए लिखी गयी। शेक्सपियर के 'क्लासिक' चरित्र हेमलेट की नयी व्याख्या और अभिनेताओं की रूपयान क्षमता के विवेचन के पश्चात् शॉ हेमिल्टन क्लार्क के संगीत संयोजन की विशेष समीक्षा करते हैं। संगीत संयोजन को नाटक के सर्वथा अनुपयुक्त बताते हुए वे प्रस्तुति को सशक्त और प्रभावी बनाने की माँग करते हैं। वे दूसरे अभिनेताओं द्वारा अभिनीत 'हेमलेट' के चरित्र का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। प्रदर्शन में पात्र चयन पर विचार व्यक्त करते हुए वे श्री ग्रेन्विल को रानी की भूमिका के लिए उपयुक्त नहीं ठहराते। नाट्य-प्रस्तुति की ऐसी समीक्षा नाट्य-निर्माण प्रक्रिया से

सुपरिचित समीक्षक ही प्रस्तुत कर सकता है। शॉ अपनी माता के प्रभाव से संगीत के पारखी और स्वतन्त्र रूप से संगीत समीक्षक भी थे।

ऐबी थियेटर, डब्लिन में जनवरी १९०७ में मंचित जे० एम० सिंज के नाटक 'प्ले बाय आफ द वे स्टार्न वर्ल्ड' को लेकर बड़ा हंगामा हुआ। कई रातों तक प्रेक्षकों ने कलाकारों को सुना ही नहीं पर शोर-शराबे में नाटक मंचित होता रहा। नाटक को लेकर कई मुक़द्दमे चले। तभी ऐबी मंच व्यवस्थापक समिति ने प्रेक्षकों का एक खुला अधिवेशन आयोजित किया। ४ फरवरी १९०७ को इस अधिवेशन में डब्ल्यू बी० येट्स ने नाटक की पैरवी की। नाटक फिर भी एक लम्बी बहस में पड़ गया। नाटक की तीन अलग-अलग समीक्षाओं में नाटक की स्तरहीन भाषा और पेचीदे कथ्य की आलोचना की गयी। सिंज के अन्य नाटकों व उनकी गम्भीरता को ध्यान में रखते हुए इस नाटक विशेष में प्रयुक्त परम्परावादी अभिरुचि के लिए असहनीय शब्द प्रयोग, यथार्थ का भौंडापन और सामाजिक मूल्यों को ठेस पहुँचाने वाले नाट्य व्यवहार के आधार पर इसे एक 'भयंकर नाटक' माना गया। समीक्षाओं में येट्स के तर्कों का खुला समर्थन किया गया किन्तु "दि आईरिश टाइम्स, ३० जनवरी, १९०७ ने लिखा, अच्छा होता हम इससे अच्छे किसी नाटक की कला स्तर पर पैरवी कर रहे होते।"

१५ नवम्बर, १९१२ को सेवॉय थियेटर में प्रस्तुत शेक्सपियर के नाटक 'ट्वेल्फ्थ नाईट' व ५ जून १९२० को लिरिक थियेटर में प्रस्तुत 'द बेगर्स आपेरा' की समीक्षाएँ अभिनेताओं व उनके द्वारा अभिनीत चरित्रों की सूची से प्रारम्भ होती हैं। ग्रेन्विल बार्कर के निदेशन में प्रस्तुत शेक्सपियर के सुखान्त नाटक 'ट्वेल्फ्थ नाईट' की १६ नवम्बर, १९१२ के 'द मोर्निंग पोस्ट' में प्रकाशित समीक्षा में सम्पादकीय टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है। ग्रेन्विल बार्कर की अमरीकी मण्डली द्वारा अंग्रेजी कलाकारों की अपेक्षा अधिक चुस्त संवाद प्रेषित करने की प्रशंसा की गई है। क्लासिक नाटकों की समीक्षाओं में प्रदर्शनों व अभिनेताओं का तुलनात्मक अध्ययन हर बार किया गया है।

८ अप्रैल, १९२० को 'डेली टेलिग्राफ' में डब्ल्यू० ए० डार्लिंगटन द्वारा सुप्रसिद्ध अभिनेत्री सुश्री गेनेविव वार्ड के ८३ वें जन्मदिवस पर कला परिचय प्रकाशित किया गया जिसमें उनकी कलायात्रा का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया। एक साक्षात्कार के माध्यम से महत्त्वपूर्ण नाटकों में उनके अभिनय की चर्चा के साथ-साथ त्रासदी के मंचन को लेकर महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की गई। आधुनिक रंगमंच के सन्दर्भ में प्रायोगिक स्तर पर ऐसा विवेचन शायद पहली बार प्रस्तुत किया गया। अभिनय में व्यक्तिगत प्रतिभा और सफलता के पारस्परिक सम्बन्ध को 'मीडिया' 'द ट्रोजन वीमेन' व 'कैंडिडा' जैसे प्रसिद्ध नाटकों के उल्लेख के साथ सहज सहानुभूति प्राप्त करने वाले भावुक चरित्रों के सन्दर्भ से व प्रेक्षकों के मनोविश्लेषण के साथ समझने की चेष्टा की गयी।

२० मार्च १९२१ को 'अ बिल आफ डायवोर्समेण्ट' की 'दि ओब्जर्वर' में प्रकाशित समीक्षा में प्रथम महायुद्ध की विभीषिका के कथ्य को लेकर पहली नाट्य समीक्षा उपलब्ध है। इस नाटक को समीक्षक ने एक उच्चस्तरीय रचना माना है। नाटक में तीन कमजोर क्षण गुजरे जिनका समीक्षक ने क्रमशः उल्लेख किया है। विक्षिप्त चरित्रों के आचरण पारंपरिक कथ्यों से एक निश्चित प्रस्थानक बिन्दु स्थापित करते हैं। उच्चस्तरीय नाटक के अनुरूप ही श्रेष्ठ मंचन के सन्दर्भ से समीक्षक ने अंग्रेजी अभिनेत्रियों की प्रतिभा पर राष्ट्रीय गर्व कर सकने की सीमा तक प्रशंसा की। यद्यपि महायुद्ध का प्रभाव मुखर रूप में समीक्षा का अंग नहीं बना, कथ्य में एक स्पष्ट बदलाव देखा जा सकता था। समीक्षक की प्रशंसा में सामूहिक अनुभव की कलात्मक अभिव्यक्ति ही प्रमुख कारण रही होगी। सुश्री क्लिमेंस डेन, एक प्रतिष्ठित उपन्यासकार, द्वारा लिखा गया यह नाटक, पारम्परिक कथ्यों अतिनाटकीय दृश्यों और फार्मूलों पर आधारित नाटकों की तुलना में, जिन्हें समीक्षक ने 'यन्त्र निर्मित नाटक' की संज्ञा दी, बहुत पसन्द किया गया।

३० अगस्त, १९२५ को 'दि ओब्जर्वर' में 'हेमलेट इन माडर्न प्रेस' शीर्षक से समीक्षा प्रकाशित हुई जिसका विषय आधुनिक वस्त्रों में शेक्सपियर के नाटक की किंग्सवे थियेटर में प्रस्तुति थी। इस निर्मित को मनोरंजक और उत्तेजक पाया गया। निर्देशक सरबारी जेक्शन से पहले किसी ने भी इस प्रकार की प्रस्तुति की कल्पना भी नहीं की थी। शेक्सपियर के क्लासिक त्रासदी के सन्दर्भ इस प्रस्तुति में आधुनिक लगे और यह बात सिद्ध हुई कि 'हैमलेट', जैसा पारम्परिक नाटक मण्डलियाँ उसके बारे में सोचती रही हैं उससे भी कहीं अच्छा नाटक है। प्रयोगधर्मिता आधुनिक रंगमंच पर स्पष्ट तौर से स्थापित ही नहीं बल्कि पहली बार प्रतिष्ठित हुई।

१० मई १९३० को 'द वीक एण्ड दिव्यू' में प्रकाशित चार्ल्स लॉटन के सन्दर्भ से ह्यू वालपोल का लेख 'अ क्रियेटर' (एक रचनाकार) प्रस्तुत अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है। नाट्यसमीक्षा के नाट्यालोचन से निकट सम्बन्ध का परिचायक यह लेख कई सारगर्भित स्थापनाएँ करता है। रचनाकार अभिनेता की परिभाषा देते हुए समीक्षक कहता है,"रचनाधर्मी अभिनय से मेरा अर्थ, मैं सोचता हूँ, अभिनेता की उपलब्ध नाट्य-रचना सामग्री को रूपायित करने में उसमें सार्थक अभिवृद्धि करने की क्षमता से ही है।" कुछ उदाहरणों के साथ समीक्षक ने अमेरिका, जर्मनी और फ्रांस की अपेक्षा इंगलैण्ड में रचनाशील अभिनय की कमी को रेखांकित करने का प्रयास किया है जो समीक्षक का व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही कहा जा सकता है।

१७ जून, १९३५ को 'द टाइम्स' में टी० एस० एलियट के नाटक "मर्डर इन द केथेड्रल" की समीक्षा प्रकाशित हुई। एलियट में आधुनिक संवेदनशीलता पूर्णतया विकसित हो चुकी थी। ऐलियट द्वारा बीसवीं शताब्दी के प्रमुख पद्यनाटक की संरचना, उसको व्यक्तिगत बिम्ब विधान व नाटकीय पद्य को उपलब्ध करने का प्रयास जहाँ समीक्षा के बिन्दु हैं वहाँ कथ्य के स्तर पर वह 'मोरेलिटी' व 'क्रोनिकल' के

बीच की संरचना ग्रहण करता है। एलियट द्वारा संरचना के साथ किये गये अनेक प्रयोग इस नाटक को आधुनिक रंगमंच के सन्दर्भ में अध्ययन का प्रमुख विषय बताते हैं।

इन कुछ उदाहरणों के साथ आधुनिक रंगमंच की संक्रान्ति का अध्ययन किया जा सकता है। इंगलैण्ड के रंगमंच के विवेचन के पक्ष में पहला तर्क भाषायी पहुँच का ही है। दूसरी बात है एक सक्रिय प्रतिनिधि आधुनिक रंगमंच की, जो इंगलैंड का रंगमंच निश्चित रूप से है ही। तीसरी बात भाषायी व अन्य कारणों से भारतीय रंगमंच के निकटतम प्रभाव के रूप में ब्रिटेन के रंगमंच को ही लिया जा सकता है। अन्तिम बात है इस प्रकार के नाट्य-समीक्षा को लेकर संकलित दुर्लभ सन्दर्भ ग्रन्थ के सहज उपलब्ध हो जाने की।

IV

भारतीय रंगमंच और नाट्य-समीक्षा स्वातन्त्र्योत्तर भारत में ही प्रतिष्ठित होने लगे। इससे पहले किन्तु महत्त्वपूर्ण शुरुआत हो चुकी थी और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही रंगमंच को गम्भीरतापूर्वक लेने के प्रयास किये जाने लगे। ये प्रयास सुनियोजित व प्रचुर न होने के कारण बिखराव और कभी-कभी भटकाव में एकाकी रहे। नाट्य-समीक्षा पत्रकारिता से न जाने किस क्षण जुड़ी कि पत्रकारों में ही कुछ सुरुचिसम्पन्न लोग नाट्य समीक्षकों के रूप में पहचाने जाने लगे। पहली चार दशाब्दियों तक समीक्षा का आधार साहित्यिक अधिक और रंगमंचविषयक कम रहा। 'काव्य पक्ष' की प्रधानता के कारण समीक्षा में भी उसका अनुशीलन हुआ। तब तक हिन्दी रंगमंच को इतनी साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकी थी कि उसका ऐतिहासिक अध्ययन भी प्रस्तुत किया जाता। पण्डित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी द्वारा लिखित नाटक 'जानकीमंगल' की २ अप्रैल १८६८ की काशी थियेटर रोयल में महाराजा ईश्वरी नारायणसिंह बहादुर की आज्ञा से हुई प्रथम प्रस्तुति को हिन्दी रंगमंच की प्रथम प्रस्तुति मानकर १९६८ में देश भर में हिन्दी रंगमंच की शत वार्षिकी तो धूमधाम से मनाई गयी परन्तु रंगमंच के उद्भव और विकास को लेकर मतवैभिन्य बना रहा। श्री नेमिचन्द्र जैन ने 'नटरंग' के हिन्दी रंगमंच शत-वार्षिकी अंक के सम्पादकीय में ही लिखा, "वास्तव में तो हिन्दी रंगमंच का प्रारम्भ १८४३ (सीता स्वयंकर विष्णुदास) से ही मानना उसके मध्यकालीन बहुविध रूप को नकारना है।" नटरंग अंक ७ में अमृतलाल नागर ने रंगमंच के इतिहास की आवश्यकता पर एक पत्र के माध्यम से आग्रहपूर्वक बल दिया। पत्र में रंगमंच के इतिहास संकलन के दो उपादेय मन्तव्य सामने रखे गये—अध्यापकीय समीक्षा से मुक्ति और हिन्दी रंग-कर्मियों को उचित कर्म-निर्देश।

इधर हिन्दी रंगमंच को लेकर शोध लेख भी लिखे गये जिनमें एक समेकित सर्वेक्षण के सहारे इतिवृत्तात्मक सिंहावलोकन प्रस्तुत किया गया। शोधकर्ताओं की अभिरुचि और उपलब्ध तथ्य दोनों रोचक हैं। संयोग की बात है ड्रेमेटिक पर्फोमेंस एक्ट १८६७ में पारित हुआ जो नाटकों पर सेंसरशिप का प्रावधान रखता है और

१८६८ में जानकीमंगल का प्रदर्शन हुआ जिसे हिन्दी का पहला अभिनीत नाटक कई नाट्यालोचक मानते हैं। नाट्य प्रदर्शन अधिनियम बनने की पृष्ठभूमि में अवश्य प्रचुर नाट्य गतिविधि रही होगी और 'जानकीमंगल' के प्रदर्शन तक उसका सुस्पष्ट स्वरूप उभरा होगा। जानकीमंगल की प्रस्तुति का महत्त्व इसलिए भी है कि इसने भारतेन्दु को पहली बार रंगकर्म से साक्षात्कार कराया। लक्ष्मण की भूमिका लक्ष्यं भारतेन्दु ने अभिनीत की, तदन्तर १८७४ में अपने ही नाटक सत्य हरिश्चन्द्र में मुख्य भूमिका भारतेन्दु ने ही निभायी। नटरंग अंक सत्ताइस में कृष्णमोहन सक्सेना का शोधपरक लेख 'भारतेन्दुयुगीन नाटकों में ध्वनि संगीत एवं प्रकाश व्यवस्था' प्रकाशित हुआ जो सूचनात्मक होने के साथ एक सक्रिय और प्रयोगधर्मी रंगमंच की ओर स्पष्ट संकेत करता है। आकाशवाणी, मेघगर्जन, शंख-तूर्यनाद आदि ध्वनि प्रभावों के अतिरिक्त यवनिका पतन से समायोजित संगीत, पेट्रोमेक्स, अर्गललैम्प और मसालों द्वारा रंगदीपन और 'तीव्र गति' से संवाद उच्चारण उस युग के रंग प्रयोग थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारतेन्दु नाट्य-लेखन की सृजानधर्मिता व हिन्दी रंगमंच की प्रयोगधर्मिता के प्रेरणा स्त्रोत रहे।

भारतेन्दुयुगीन रंगमंच के समानान्तर नाट्य-समीक्षा का विकास भी हुआ और नाट्यालोचन में नयी अभिरुचि दृष्टिगत हुई। बदरीनारायण चौधरी की 'सीता स्वयंवर' की समीक्षा प्रतिनिधि अध्ययन के रूप में ली जाय और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाट्यालोचन व नाट्य सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाय तो एक सशक्त शुरुआत का पता मिलता है। इस समय की नाट्यालोचन का आधार भले, 'दोष-दर्शन' रहा हो तथा 'सौन्दर्य, इतिहास, जीवनी और तुलना' के फार्मूले में भले इसे सरलीकृत किये जाने का प्रयास किया जाय, इसका ऐतिहासिक महत्त्व प्रभावित नहीं होता। १९३० तक प्रसादजी का साहित्य सृजन व आचार्य शुक्ल का आलोचना पर निर्विवाद आधिपत्य रहा। इस काल का नाट्य-साहित्य रंगमंच प्रयोगधर्मी कम और साहित्यिक अधिक था। आलोचना शास्त्रीय प्रतिमानों के इर्द-गर्द प्रामाणिकता को लक्ष्य रूप में अपना चुकी थी। इस काल में द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक और उनके मंचन ने रंगमंच की लोकप्रियता में अभिवृद्धि की। पारसी रंगमंच भी इस समय सक्रिय था। रंगमंच को व्यावसायिक बनाने के प्रयत्न भी इसी समय प्रारम्भ हुए। आद्य रंगाचार्य का अनुमान है शायद इसी बढ़ती व्यावसायिकता ने प्रसादजी को रंगमंच से दूर किया। १९३० से एक निश्चित आधुनिक रंगमंच के प्रारम्भ की भूमिका बन चुकी थी। सभी क्षेत्रीय रंगमंचों पर भी आधुनिक प्रयोगों की शुरुआत तभी हुई। १९३० से ही भारत में फिल्मों का लोकप्रिय होना प्रारम्भ हुआ। अव्यावसायिक किन्तु विचारधाराओं से प्रतिबद्ध रंगमंच के बीज भी इसी काल में बोये गये। अव्यावसायिक मंच सक्रिय और निष्ठावान रंगकर्मियों के सहारे अपनी पहचान बना चुका था। बंगाल में शम्भुमित्र, मनोरंजन भट्टाचार्य, गंगपद बाँसु, कुमार राय व तृप्ति मित्र, गुजरात में जसवन्त ठक्करव दीना पाठक रंगमंच को सम्भ्रान्त दर्शकों के बीच प्रतिष्ठित कर चुके थे। 'नाट्य कला

परिषद्' 'नाट्य मन्वन्तर', मद्रास में सेवा संघ, आन्ध्र में तेलगु लिटिल थियेटर आन्ध्र थियेटर फेडरेशन, गुजरात में रंगभूमि नाटमण्डल आदि संस्थाओं ने रंगमंच को सांस्कृतिक जनजीवन का महत्त्वपूर्ण अंग बना दिया। 'पृथ्वी थियेटर्स' के निष्ठावान रंगकर्मियों की उपलब्धियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हिन्दी साहित्य और रंगमंच में यह एकांकियों का युग माना गया है जबकि प्रचुर मात्रा में एकांकी लिखे और मंचित किये गये। इण्डियन नेशनल थियेटर का संगठनात्मक कार्य रंगमंच की जड़ों को मजबूत करने में सराहनीय रहा। भारतीय नाट्य संघ की संस्थापिका श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तिका "थियेटर फार द पीपुल इन इण्डिया' में भारतीय नाट्य संघ की सांस्कृतिक नीति को स्पष्ट करने से पूर्व आधुनिक परिस्थिति का गूढ़ विश्लेषण किया है। मजदूर नेता श्री एन० एन० जोशी द्वारा उद्घटित इण्डियन पीपुल्स थियेटर ने परिश्रमपूर्वक ख्याति अर्जित की। प्रतिबद्ध रंगकर्मियों की इस संस्था ने कई शाखाओं के साथ सामाजिक दायित्व को नाटकों के मूल कथ्य में व्यक्त किया।

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय रंगमंच अपने सम्पूर्ण कलेवर में एक गम्भीर विधा और राष्ट्रीय सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र बन गया। भारतीय नाट्य संघ से सम्बद्ध सक्रिय २०० से अधिक संस्थाएँ विभिन्न प्रान्तों में कार्यरत थीं। १६५३ में केन्द्र में संगीत-नाटक अकादमी की स्थापना द्वारा १६५४ में दिल्ली में आयोजित राष्ट्रीय नाट्य समारोह में १४ मान्यताप्राप्त भाषाओं का प्रतिनिधित्व हुआ। उधर १६५५ तक २७० फिल्में बन चुकी थीं। और फिल्म प्रेक्षकों की वार्षिक अनुमानिता संख्या ६ करोड़ ३० लाख तक पहुँच गयी थी। रंगमंच की गति इतनी थी कि दूसरे कलाकारों ने तुरन्त रिक्त स्थानों की पूर्ति कर दी। कई कलाकार फिल्मों में अभिनय व रंगमंच के बीच व्यक्तिगत तालमेल बैठाते रहे। आज भारतीय रंगमंच जिस वैविध्य का प्रतिनिधित्व करता है वह किसी भी पश्चिमी विकसित देश के रंगमंच की तुलना में खड़ा हो सकता है। लेखन और मंचन दोनों स्तरों पर आधुनिकता प्रयोगशीलता के रूप में व्यक्त हो रही है। १६५५ में धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' व १६५८ में राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' के बाद लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा, विपिन कुमार अग्रवाल, रमेश बक्षी, मुद्रा राक्षस आदि ने मंच को आधुनिक कृतियाँ प्रदान कीं, फिर भी अच्छे नाटकों के अपर्याप्त होने की अवस्था में हिन्दी रंगमंच अनुवादों व रूपान्तरों पर अधिक निर्भर रहा। १६५६ में नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा की स्थापना से रंगमंच राष्ट्रीय स्तर पर अभिव्यक्ति के माध्यम रूप में मान्यता प्राप्त कर सका। १६६२ से ई० अल्काजी के निर्देशन में रंगमंच प्रशिक्षण पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों के समानान्तर प्रारम्भ हुआ। छठे दशक में ही रंगमंच की आनुषंगिक शाखाओं में पारंगत एक रंगकर्मियों की एक श्रृंखला खड़ी हो गयी। अल्का जी 'आज के रंग नाटक' में संकलित तुगलक के निर्देशकीय वक्तव्य प्रारम्भ करते हैं "भारतीय रंगमंच के विकास में छठा दशक अनेक कारणों से बहुत ही समृद्ध और महत्त्वपूर्ण

कालों में से एक माना जाएगा। सबसे स्पष्ट और सबसे प्रमुख कारण यही है कि इन वर्षों में रंगकला की आनुषंगिक शाखाओं—नाट्यलेखन, अभिनय, निर्देशन, मंच परिकल्पना एवं प्रकाशव्यवस्था ने विशिष्ट प्रतिभाओं के जरिए प्रौढ़ता प्राप्त कर ली। तकनीकी निपुणता के अतिरिक्त समकालीन जीवन का सार्थक चित्रण इन नाटकों की खूबी हैं। यह सामाजिक प्रासंगिकता स्वत: रचनाशीलता का अंग बन गयी।" आज के रंग नाटक में ही सुरेश अवस्थी ने उभरती हुई तस्वीर के 'रंग शीर्षक से लिखा' हिन्दी रंगमंच ने स्वतन्त्रता के पश्चात् लगभग अर्थ के प्रारम्भ किया, और दो दशकों की यात्रा के बाद वह ऐसे बिन्दु पर आ गया, जहाँ से अपनी नवीन चेतना और स्फूर्ति के कारण इस महत्त्वपूर्ण दायित्व को निभा सका।"

प्रसादोत्तर नाट्यालोचन में डा० नगेन्द्र, दशरथ ओझा, डा० सोमनाथ गुप्त, कु० चन्द्रप्रकाश सिंह के नाम लिये जाते हैं आधुनिक रंगमंच के विकास के समानान्तर जगदीशचन्द्र माथुर, नाट्यालोचक व नाट्य समीक्षक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। नाटक की समग्र स्वायत्तता व नाट्यार्थ के विवृत होने को श्री माथुर ने समीक्षा की सही कसौटी माना। मोहन राकेश ने नाटकीय शब्द का शोधस्तरीय अध्ययन किया। नेमिचन्द्र जैन लिखित नाट्यानुभूति के विवेचनात्मक अध्ययन 'रंगदर्शन' ने आधुनिक रंगमंच के सन्दर्भ में कई महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ कीं। डा० लक्ष्मीनारायण लाल की रंगमंच और नाटक की भूमिका १९६५, गोविन्द चातक की रंगमंच कला और दृष्टि १९७६, डा० मान्धाता ओझा की हिन्दी नाट्य समालोचन १९७६, आद्य रंगाचार्य की परिचयात्मक कृति, भारतीय रंगमंच १९७१ के अतिरिक्त कई शोध-ग्रन्थों के प्रकाशन भी सामने आये।

श्री नेमिचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित 'नटरंग' के प्रकाशन के साथ ही नाट्य-समीक्षा समेकित होने लगी। कई रंगकर्मियों ने भी नटरंग के प्रवेशांक की समीक्षा व उसके चरित्र की पत्रिका के प्रकाशन के अवसर पर स्नेह सान्याल ने "संगीत नाटक जर्नल ऑफ संगीत नाटक अकादमी' में लिखा कि हम इस देश में रंगमंच की जीवन में उस बिन्दु पर हैं जहाँ 'नया' अपनी उस पहचान और अस्तित्व के लिए संघर्षरत है, जिसे वैभवशाली परम्परा या वैविध्यपूर्ण वर्तमान से जोड़ा जा सके। ऐसे समय में जहाँ 'नटरंग' जैसी पत्रिका का स्वागत किया वही चेतावनी भरे शब्दों में कठिनाइयों समस्याओं व दायित्व से अवगत भी कराया। सभी कठिनाइयों के बावजूद नटरंग एक त्रैमासिक का दायित्व ढोते हुए संग्रहणीय सामग्री उपलब्ध कराने के साथ ही रंगमंच की एक निश्चित 'इमेज' बनाने में सफल हुआ है। अंग्रेजी में 'इनेक्ट' का प्रकाशन भी स्तरीय है। और रंगमंच सम्बन्धी सभी मुद्दों पर गम्भीर सिलसिलेवार व गहन अध्ययन प्रकाशित करता है। साथ ही इन पत्रिकाओं के माध्यम से मौलिक नाटक रंगकर्मियों और रंगकर्मी संस्थाओं तक पहुँचाने का प्रेरणास्पद कार्य भी हो रहा है। यह अनुभव किया जाता रहा है कि रंगमंच के सम्यक् विकास तथा प्रेरणा व उत्साह के संचार हेतु दैनिक और साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं में नाट्य-समीक्षा को स्तम्भ रूप

में स्थान मिलना चाहिए। युवा पाठक वर्ग में रंगमंच में प्रति अभिरुचि जागृत होने के साथ-साथ रंगमंच स्तम्भ लोकप्रिय होने लगा है।

हिन्दी रंगमंच शत वार्षिकी १९६८ के अवसर पर अनामिका कला संगम कलकत्ता द्वारा एक नाट्य परिसंवाद आयोजित किया गया। दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच विषय पर सामयिक और सार्थक विचार-विमर्श हुआ। दर्शकों का वर्गीकरण व उनकी समस्याएँ दर्शकों की रुचि से निर्देशित हैं। नाट्यान्दोलन को आगे बढ़ाने की बात सामान्य दर्शक को परिभाषित करने की समस्या में आकर उलझ जाती है। नाट्यान्दोलन रंगमंच का मूल मन्त्र बना हुआ है किन्तु रचनात्मक प्रचुरता बनाम सार्थकता का सवाल लम्बी बहस में पड़ा है। प्रताप शर्मा लिखित (अंग्रेजी) नाटक 'अ टच आफ ब्राइटनेस' भारतीय नाट्य संघ की निर्मिति की हैसियत से पहले कामनवेल्थ आर्ट फैस्टिवल के रूप में इंगलैंड में प्रदर्शित होना था। सितम्बर, १९६५ में दल के प्रदर्शन हेतु इंगलैंड जाने पर भारतीय सरकार के आदेशानुसार रोक लगा दी गयी। १७ फरवरी १९६६ को नाटक पर ही प्रतिबन्ध लगा दिया। तभी प्रयोग और सामाजिक मूल्यों की बहस शुरू हो गयी जो सखाराम बाइंडर, गिद्ध, वासनाकाण्ड, गार्बो, सम्भोग से संन्यास तक आदि नाटकों के सन्दर्भ में नाट्यालोचन के सम्मुख प्रश्नचिह्न बनी रही।

इलाहाबाद नाट्य संघ द्वारा आयोजित अखिल भारतीय लघु नाटक प्रतियोगिता जनवरी १९६८ के अवसर पर प्रकाशित सुमित्रानन्दन पन्त ने विशेष लेख में कहा कि "आधुनिक युग में नाटकों का स्वरूप तथा रंगमंच की सज्जा लोकरुचि के अनुरूप पर्याप्त बदल गई है। नाटक में मानव जीवन तथा मानव स्वभाव को सजीव अभिव्यक्ति मिलनी चाहिए।" १६ अप्रैल १९६२ के धर्मयुग में प्रतिष्ठित रंगकर्मी सत्यदेव दुबे ने आधुनिक रंगमंच का सामाजिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में वर्गीकरण प्रस्तुत किया। अपने लेख 'मूल्यों के दायरे और आज का रंगमंच' में वे फार्मूला नाटक, स्वीकृत मूल्यों को दुहराने वाले नाटक, प्रतिबद्ध और नैतिक उलझनों से सीधी टक्कर लेने वाले आदि वर्गों, का उल्लेख करते हुए विभिन्न अनुभूति क्षेत्रों के व्यक्तिगत दायरों से आने वाले नाटकों का रंगमंचीय अध्ययन प्रस्तुत किया। आधुनिक नाटकों को 'शाब्दिक संरचना' बताते हुए रंगमंच के मुहावरे की तलाश शब्द-ध्वनि और नि:शब्दता को लेकर किए गये प्रयोगों की ओर इंगित किया। नाटक के मूल्यों की खोज (नटरंग, अंक १८) में रंगमंच को बुद्धिजीवी का विलास और 'इलाइट' के मनोरंजन का साधन मात्र बनने से बचाने की अपील की गई। नाटक की समझ, समझ का नाटक शीर्षक से नटरंग २७ में उत्तर प्रदेश संगीतनाटक अकादमी द्वारा आयोजित नाट्य प्रशिक्षण शिविर के प्रति साहित्यकारों की उदासीनता को चिन्ता का विषय मानते हुए, साथ ही विद्रोह को गलत रास्ते पर ले जाने वाले दिशाहीन युवा वर्ग के शिविर से सक्रिय रूप से जुड़ जाने पर विस्मय व्यक्त किया गया। इन सभी उद्धरणों का प्रयोजन यह बताता है। कि आन्तरिक समस्याओं से साक्षात्कार का दौर भी नाट्यविषयक साहित्य व इतिवृत्त

का विषय रहा जो एक ओर यथेष्ठ वातावरण बनाने में सफल हुआ तो दूसरी ओर रंगमंच का पर्त-दर-पर्त अध्ययन प्रस्तुत कर सका। मेक्समूलर भवन द्वारा आयोजित ब्रेख्त से साक्षात्कार नाम से नाट्य समारोह व परिचर्चा के अवसर पर आधुनिक रंग प्रयोगों का विवेचन व मूल्यांकन किया गया।

नाट्य समीक्षा का सवाल 'नटरंग' के प्रथम तीन रंगमंच के आत्मालोचक और आत्मविश्लेषण प्रधान अंकों में, बाद के कुछ अंकों में, हिन्दी व क्षेत्रीय रंगमंच के केन्द्रों का सर्वेक्षण प्रस्तुत करने के पश्चात् अंक ११-१२ में उठाया गया। अंक बारह में प्रतिक्रिया प्रस्तुत करते हुए नाट्य समीक्षक के व्यक्तिगत की भूमिका और उसके कलात्मक दायित्व का विश्लेषण आर० एल० निगम ने प्रस्तुत किया। व्यक्तिगत अधिक प्रभावी हो जाने पर समीक्षाओं के मूल्यपरकता और सार्थकता न रह जाने क खतरे का अन्दाज करते हुए समाचार पत्रों से सम्बन्ध और नाट्य समीक्षकों के प्राश्निक अधिक व दार्शनिक कम यान हीं होने को स्वीकारने के बाद नाट्यसमीक्षा के वस्तुनिष्ठ निकष विकसित करने की आवश्यकता महसूस की गयी। 'इनेक्ट' में प्रकाशित सत्यदेव दुबे के समीक्षकों के हवाले से लिखे पत्र ने प्रयोगशील रंगकर्मी वे आत्मतुष्ट समीक्षा को एक अनोखे मत वैभिन्य की स्थिति में ला खड़ा किया। समीक्षा निष्कर्षमूलक (deductive) हो या निर्धारणवादी (prescriptive) यह प्रश्न सामने आया और रंगमंच विषयक विचार मंथन की गति के निरन्तर दुत होने का स्पष्ट अनुभव हुआ।

हिन्दी नाटक और नाट्य-समीक्षा १९७४ (सम्पादक—नरनारायण राय) जैसे संकलन इस समय बहुत महत्त्वपूर्ण और स्वागत योग्य हैं। जहाँ ये नाटक-समीक्षा का स्तरीय संकलित प्रतिनिधित्व उपलब्ध कराते हैं वहीं सामान्य विकास भी निरूपित करते हैं, जो आधुनिक नाट्य-समीक्षा या नाट्य-समीक्षा में आधुनिकता के मानदण्ड होंगे। डा० अज्ञात द्वारा प्रस्तावित हिन्दी रंगमंच १९७७ इसी प्रयास की एक कड़ी होगी। यहाँ 'स्पेसिमेन्स आफ इंगलिश ड्रेमेटिक क्रिटिसिज्म' का उल्लेख करते हुए ऐसे प्रयासों के महत्त्व को रेखांकित करना चाहूँगा। डा० चन्दूलाल दुबे द्वारा दो खण्डों में प्रकाशित नाटक का इतिहास रंगसंस्थाओं और रगकर्मियों के माध्यम से भारतीय रंगमंच का एक व्यापक सर्वेक्षण प्रस्तुत करता है। इसी दृष्टिकोण से कई शोध ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। नाट्य समीक्षा को लेकर बदलते हुए आधुनिक मानदण्डों के अध्ययन से भी नाट्य समीक्षाओं का ज्यों का त्यों संकलित किया जाना विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। समीक्षाओं के तत्त्वों का अध्ययन इनके आधार पर स्वतन्त्र रूप से किया जा सकता है।

दैनिक समाचार पत्रों के साप्ताहिक अंकों में रंगमंच पर विशेष सामग्री प्रकाशित होने लगी है। साप्ताहिक और पाक्षिक पत्रिकाओं ने अपनी विशेषांकों की सूची में रंगमंच को भी स्थान दिया है। रंगमंच की अपनी पत्रिकाओं नटरंग, इनैक्ट, अभिनय संवाद, रंग भारती, अभिनय, रंगयोग, के अतिरिक्त दिनमान, धर्मयुग,

साप्ताहिक हिन्दुस्तान, इलस्ट्रेटेड वीकली, ईव्ज वीकली, यूथ टाइम्स, राउण्ड टेबल आदि ने विशेषांक प्रकाशित कर महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध करायी है। अधिकांश दैनिक पत्रों के स्टाफ नाट्य-समीक्षक प्रदर्शनश: प्रतिक्रियाएँ देते ही हैं। कुल मिलाकर रंगकर्म एक अर्थपूर्ण, महत्त्वपूर्ण और गम्भीर विधा के रूप में लिया जाने लगा है। नाट्य-समीक्षा से रंगकर्म की प्रचुरता अनुशासित व स्तरीय चयन से बदल रही है। नाट्य लेखन रंगमंच समीक्षा अन्तर निर्भर विकास के अंग होते हैं यह समझ में आने लगा है।

अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं ने नाट्य-समीक्षाओं को समय-समय पर प्रकाशित करने में समयानुकूलता, विवेचनात्मकता व तुलनात्मक अध्ययन तथा विवेक का परिचय दिया शायद इसका कारण अंग्रेजी नाट्य समीक्षकों की पाश्चात्य नाट्य-समीक्षा के अध्ययन की पृष्ठ भूमि रही है। यह प्रश्न भी कई परिसंवादों का विषय रह चुका है कि अंग्रेजी में प्रकाशित नाट्य समीक्षाएँ भिन्न क्यों लगती हैं। यह भी कुछ रंगवेत्ता अध्येताओं द्वारा अनुभव किया गया है कि अंग्रेजी का नाट्य-समीक्षक कई स्तरों पर नाटक और प्रदर्शन से अलग हो जाता है और अलग रहता है (नटरंग, अंक बारह)। यह भी कहा गया कि ऐसी समीक्षा सार्थक और मूल्यपरक न होकर एक प्रकार की उलझन बनती हैं। नाट्य समीक्षक वर्ग जो भी इस समय आधुनिक रंगमंच के प्रति अपनी तुरन्त प्रतिक्रिया व्यक्त करता है प्राय: प्रायोगिक मंच से निकटस्थ सम्बन्ध नहीं बनाता और सैद्धान्तिक अध्ययन जिसमें अधिकांश ग्रन्थ अंग्रेजी में उपलब्ध होते हैं, के आधार पर कलात्मक विवेचन का विवेक विकसित करता है। समीक्षक वर्ग व रंगकर्मी कलाकारों के बीच एक अजीब विस्मयबोधक सम्बन्ध बन गया है। नाट्यालोचक वर्ग जो एक दार्शनिक स्तर पर रंगमंच का सैद्धान्तिक विवेचन करता है, रंगकर्मी वर्ग के बीच सम्मानित स्थान रखता है। यही समय है जब नाट्य-समीक्षा को अपना क्षेत्र और उत्तरदायित्व भली प्रकार परिभाषित कर लेना चाहिए।

नाटक एक दृश्य-श्रव्य अभिव्यक्ति का माध्यम है। दर्शक श्रोता के सम्मुख सारा नाट्य व्यापार 'उपलब्ध यथार्थ' की तरह प्रकट होता है। जीवन्त अभिव्यक्ति को सहज प्रतिक्रिया के रूप में समीक्षा अस्तित्व में आती है। नाट्य-समीक्षा 'प्रतिक्रिया' के अर्थों में उतनी ही पुरानी है जितनी कि प्रथम नाट्य प्रस्तुति। कथा का रूपायन दृश्य वस्तु के रूप में होने पर ही वह नाट्य की परिभाषा में पूर्णतया समा जाता है। यह दृश्यवत्ता बहुत प्रभावी बन पड़ती है। क्योंकि एक ओर 'उपलब्ध यथार्थ' का सत्य होता है और दूसरी ओर दर्शक अपने व्यक्तिगत रूप में। दर्शक-श्रोता के इस निजी अस्तित्व को नाट्य व्यवहार आतंकित-सा कर देता है। नाटक में अवस्था की 'अनुकृति' का आभास उस समय नहीं होता, प्रेक्षक अपनी कल्पना शक्ति द्वारा सहयोग करते हुए उस उचित यथार्थ को अनुभव करता है। 'अनुकृति' का आभास मनोरंजन तो कर सकता है किन्तु सम्पूर्ण नाट्यानुभूति दर्शक-श्रोता व मंचित यथार्थ के बीच एक आदर्श सम्बन्ध स्थापित करती है जिसमें प्रेक्षक की कल्पनाशील ग्रहणशीलता का

अपना महत्त्व होता है आधुनिक नाटकों में जहाँ ब्रेख्त-नाट्य पद्धति द्वारा दर्शक के कल्पनाशील सहयोग का मोहभंग किया जाता है, वह कथ्य के दृश्य पक्ष से उस क्षण के लिए कटकर उसके विचार पक्ष से जुड़ जाता है। यही इस पद्धति का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य भी है। व्यक्तिगत स्तर पर प्रेक्षक नाट्य व्यवहार को केवल ग्रहण करता है, उसकी प्रतिक्रिया में समाजतत्त्व होता ही है। प्रतिक्रिया के सभी तत्त्व मानव मस्तिष्क में या तो वंशानुगत जैविक हैं या फिर सामाजिक। कुछ सामान्य मान्यताओं के आधार पर यह प्रतिक्रिया व्यापक अर्थों में सामाजिक जीवन मूल्यों के समानान्तर ही होती है। रंग-दर्शन में नाट्यालोचक नेमिचन्द्र जैन ने सूत्र रूप में इस तथ्य को उद्घाटित किया है : "यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि नाटक देखते समय दर्शक अपने व्यक्तिगत रूप में नहीं, मुख्यतः अपने सामाजिक रूप में प्रभावित होता है।"

नाट्य समीक्षक भी मुख्य रूप से इसी सामाजिक प्रतिक्रिया का निर्वाह करता है, अतः उसकी स्थिति एक अच्छे संवेदनशील दर्शक की सी होती है जो कि सामूहिक प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करती है। उसकी स्थिति पाठकों के सम्मुख अध्यापकीय कभी नहीं होती। वह प्रेक्षकों के बीच बराबर वालों में प्रथम है जो पत्र-पत्रिका के प्रचार-प्रसार माध्यम का प्रयोग करते हुए अपनी नाट्यानुभूति को व्यक्त करने की सुविधा का उपभोग कर रहा होता है। नाट्यार्थ को विवृत करते समय वह एक भिन्न वर्ग (पाठक वर्ग) से जुड़ता है जो परोक्ष रूप में उस अनुभूति का अंग बनता है। इसके अतिरिक्त कुछ 'विधागत' प्रतिमानों के आधार पर प्रस्तुति कर वह तकनीकी विश्लेषण भी करता है। जहाँ वह उन प्रतिमानों को कसौटी की तरह इस्तेमाल करता है वहीं नये प्रतिमानों का विकास भी नाट्य प्रयोगों के समानान्तर कर रहा होता है। समीक्षक का मुख्य उपस्कर (equipment) उसकी संवेदनशीलता ही माना गया है। उसकी प्रतिनिधि संवेदनशीलता सामूहिक नाट्यानुभूति के कारण इतनी सहज लगती है कि समीक्षा में वास्तव में विधागत मूल्यांकन का अनुपात अधिक प्रतीत होता है। कभी-कभी समीक्षक सामान्य प्रतिक्रिया को अभ्यस्त शब्दावली में बेहतर अभिव्यक्ति मात्र प्रदान कर रहा होता है।

नाट्य समीक्षक अपनी दोहरी भूमिका में एक स्तर पर नाट्यकृति और दूसरे स्तर पर मंचन और समस्त रंगचेता पाठक वर्ग के बीच सेतुबन्ध का कार्य करता है। नाट्यकृति की समीक्षा कृति की व्याख्या होने के साथ-साथ उसका दृश्यात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करती है जिसके आधार पर रंगकर्मी परोक्ष रूप में कृति के व्यवहार को अनुभव कर सकता है। यही अनुभव उसकी रचनाशीलता के मूल में समा जाता है। नाट्यकर्मी स्वयं नाटक को पढ़कर व्यक्तिगत रूप में प्रभावित होता है किन्तु नाट्य समीक्षा उस प्रभाव को अनुशासित करती है। लगभग यही प्रक्रिया मंचन व प्रेक्षक के बीच फलित होती है। नाट्य समीक्षक अपने अनुभव को प्रेस-प्रसारण के माध्यम से व्यापक बना देता है। एक अच्छी नाट्य समीक्षा कागज पर शब्दों के

माध्यम से नाटक का अभिनटन होती है उसके अतिरिक्त उसकी व्याख्या और मूल्यांकन भी।

विलियम हेजलिट ने 'सोचना, अनुभव करना व साहसपूर्वक कहना' समीक्षक का कर्त्तव्य माना है। अपनी अनुभव-समृद्ध संवेदनशीलता को उपस्कर के रूप में प्रयोग करते हुए नाट्य समीक्षक आधुनिक रंगमंच की गतिविधियों की सही प्रतिक्रिया प्रस्तुत करता है। इस कार्य में उसके अनुभव की प्रामाणिकता मूल्यांकन में सतर्कता तथा कृति और प्रस्तुति के बीच की प्रक्रिया का अनुमान करते हुए मंच प्रयोगों को प्रमुखता देनी चाहिए। कृति के साथ बरती गई स्वच्छंदता को स्वीकारना जहाँ निर्देशक का कर्त्तव्य है वहाँ उसकी व्याख्या करना नाट्य समीक्षक का दायित्व। नाट्य प्रस्तुति को ही एक वस्तु मानकर उसका वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन मंचीकरण की रचना प्रक्रिया का यदाकदा अनुमान करते हुए कथ्य और उसके रूपायन की तुलना से प्रस्तुति की सार्थकता का मूल्यांकन समीक्षक का परिभाषित कर्त्तव्य है। विकासशील रंगमंच के संदर्भ में प्रस्तुति के मूल्यांकन के अतिरिक्त विकासक्रम में उस प्रस्तुति के योगदान की चर्चा करना भी नाट्य समीक्षक के क्षेत्र में आ जाता है। ऐसा करने से नाट्यानुभूति की प्रासंगिकता पर विचार किया जा सकता है। कथ्य के स्तर पर यह प्रासंगिकता कृति को आधुनिक संवेदनशीलता से जोड़ती है और एक तकनीकी स्तर पर रंग प्रयोगों के इतिक्रम से।

'प्रयोग' आधुनिक रचनाशीलता का मूल मन्त्र है। समीक्षक वास्तव में कृति व प्रस्तुति में कथ्य की मौलिकता का ही मूल्यांकन नहीं करता वह अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में उस विशिष्ट विधा के समुचित प्रयोग को आँकता है जिसे कृतिकार ने अपनी सुविधा के लिए नहीं बल्कि विशेष कारण और आग्रह के साथ चुना है। रंगमंच जैसी विधा को चुनना निश्चित ही उसका पता देता है। अन्य विधाओं से भिन्न नाट्य साहित्य के लिए रंगमंच एक प्रयोगशाला है। प्रयोगशाला स्वयं 'सैद्धान्तिक' परिकल्पना की कसौटी है। अतः नाट्य समीक्षा स्वतः प्रस्तुति के साथ कृति का मूल्यांकन भी है। प्रस्तुति के माध्यम से नाट्यकृति के विवेचन को सैद्धान्तिक व प्रायोगिक और दोनों के एक रूप हो जाने के बिन्दु पर आँका जा सकता है। ऐसी समीक्षा ही सार्थक होती है जो कृति और प्रस्तुति में समान्तर एकलयता का अन्वेषण करती है।

आधुनिक आलोचक, एलियट और लेविस, मानते हैं कि कलाकार स्वयं सौन्दर्य बोध के प्रति संवेदनशील होता है। अर्थात् कलाकार ही प्रामाणिक समीक्षक है। साथ ही वे कहते हैं कि समीक्षक समीक्षा के गुण के कारण ही, सच्चा कलाकार भी है। यह कोई विरोधाभास नहीं है। सौन्दर्य बोध जहाँ कलाकार की आधारभूत अर्हता है वहाँ नाट्य समीक्षक का भी आधुनिक सौन्दर्यबोध यथार्थ के कलात्मक प्रस्तुतिकरण से निर्देशित है। मंच व्यापार को यदि 'उपलब्ध यथार्थ' मान लिया जाय तो नाट्यकृति उसका 'पूर्वानुमान' ही है इसी 'पूर्वानुमान' के रूपायित होकर कलात्मक यथार्थ

में मंच पर अनुदित होने की प्रक्रिया का अध्ययन रुचिकर और सार्थक होता है। नाट्य समीक्षक को मंचानुवाद के सभी उपकरणों, उनके प्रयोग व महत्त्व से सुपरिचित होना चाहिए। यह ज्ञान ही उसे अध्ययनपरक और सार्थक समीक्षा का अधिकार प्रदान करता है। नाटक एक साहित्यिक कृति के रूप में सैद्धान्तिक सौन्दर्यबोध की माँग करता है पर नाट्य प्रस्तुति की समीक्षा में समीक्षक का सौन्दर्यबोध ऐन्द्रिय अनुभव से पुष्ट होता है। नाटक के चाक्षुष (visual), बिम्ब और प्रतीक, स्थूल रूप में सामने होते हैं और कृति जीवन्त रूप में एक विशिष्ट अनुभूति के अन्तर्गत परीक्षित होती है। समीक्षा का यह पक्ष नाट्य प्रस्तुति की अपनी चारित्रिक विशेषता है। समीक्षक की आँखें दृश्य पर लगी रहती हैं और कान 'गतिमान शब्द' पर। सम्पूर्ण नाट्यानुभूति में इन दो आयामों का विशेष महत्त्व है। इन्हीं के कारण नाट्य समीक्षा का प्रस्तुति की समीक्षा से भिन्न होना अवश्यम्भावी है। यद्यपि कृति समीक्षक भी मंचन के 'पूर्वानुमान' का सहारा लेता है।

नाट्य समीक्षा एक जीवन्त संरचना की सहज प्रतिक्रिया होने के कारण ही पूर्वाग्रह को स्वीकार नहीं करती। ऐसा पूर्वाग्रह समीक्षा से कटा हुआ और साफ जाहिर हो जाता है। बनार्ड शा ने पूर्वाग्रही नाट्य समीक्षकों से चिढ़कर उन्हें खूब लताड़ा है। मंच के 'उपलब्ध यथार्थ' को एक कलात्मक पुनर्रचना समझते हुए भी वे सांसारिक यथार्थ से उसकी दुराग्रही तुलना करते हैं। यथार्थ कलात्मक स्तर पर केवल प्रतिनिधि यथार्थ ही होता है और मंच पर इसकी संरचना विभिन्न उपकरणों, जिनमें मंच-सज्जा, दृश्य परिकल्पना, प्रकाश और छाया की विरोधी प्रभावोत्पादकता, रूपसज्जा और ध्वनि प्रभावों के द्वारा की जाती है। इसलिए इसके लिए 'उपलब्ध यथार्थ' अभिधा का प्रयोग उपयुक्त लगता है। रंगमंच में 'प्रकृतवाद' के पश्चात् जो आधुनिक प्रयोग हुए हैं उनमें यथार्थ के विभिन्न धरातलों का दृश्यांकन सम्भव हो सका है। दृश्यांकन के ये प्रयोग चित्रकारिता के समानान्तर भी प्रयुक्त हुए हैं। कम-से-कम इन प्रयोगों के नामकरण दोनों विधाओं में एक ही अर्थों के प्रयोग में आते हैं। इन प्रयोगों की संप्रेषण क्षमता सिद्ध हो जाने के पश्चात् 'प्रकृतवादी यथार्थ' की माँग वैसे भी गौण हो जाती है। शॉ कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति उसी कार्य के बारे में जान सकता है जिसे वह स्वयं करता हो, उसके बारे में नहीं जिसे वह प्रमादपूर्वक निहारता मात्र हो। नाट्य समीक्षक के संदर्भ में यह बात उसके प्रत्यक्ष नाट्यकर्म को जानने के अर्थ में भले लागू न होती हो उसके परीक्षण अनुभव और संवेदनशीलता से अवश्य सम्बन्ध रखती है। उसी अर्थ में कलाकार का समीक्षक होना और समीक्षक का कलाकार होना सिद्ध होता है, अन्य किन्हीं अर्थों में नहीं। पूर्वाग्रह और दुराग्रह के अतिरिक्त नाट्य समीक्षक की कमजोरी बन जाती है उसकी आत्मतुष्टि जो आत्मवंचना का पर्याय ही है। नाट्य समीक्षक नाटककार-निर्देशन-प्रस्तुति की प्रक्रिया के अन्तिम छोर पर एक गुण ग्राहक की स्थिति ही रखता है उसके सभी प्रतिमान रंगमंच पर ही

विकसित होते हैं। अध्यापकीय पूर्वनियोजित मानदण्डों के तहत समीक्षा इसीलिए एकांगी लगती है।

उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी द्वारा प्रकाशित 'छायानट' के प्रवेशांक में श्री नेमिचन्द्र जैन ने 'नाट्य समीक्षा' 'कुछ जरूरी सवाल' शीर्षक से नाट्य समीक्षा के आधुनिक स्वरूप की छीछालेदर की है। घिसे-पिटे वाक्यों का प्रयोग, कथ्य के बारे में कुछ तथाकथित 'इन्टेलैक्चुअल' बातें कह देना, अभिनय की तारीफ बुराई करते हुए महत्त्व-मूल्यांकन करने का प्रयास नाट्य समीक्षा के रंगमंच के जैविक विकास से काटने वाली बातें हैं। रंगमंच से एक विधागत सम्बन्ध स्थापित करना व उसका समान्तर विकास नाट्य समीक्षक की दायित्वपूर्ण प्रामाणिकता है। गैर जिम्मेदार नाट्य समीक्षा न तो मूल्यांकन कर सकती है और न रंग-कर्म के विकास को निर्देशित कर सकती है नाट्य समीक्षा में स्तर मूल्यांकन (value judgement) या निर्णायक तौर पर कोई बात कहने का अवसर नहीं होता है इसलिए तारीफ बुराई की गुंजाइश भी नहीं रहती। कृति के मंचन को ही सामने रखकर संवेदनशीलतापूर्वक उसे अंतर्दृष्टि तक ले जाते हुए कृतिकार के मन्तव्य व निर्देशक की व्याख्या के बीच के सम्बन्ध को उद्घाटित करना समीक्षा का प्रमुख अंग होना चाहिए। प्रस्तुति की आन्तरिक संरचना और उसकी रंगलय कृति का जीवन्त निरूपण करते हैं। अतः उनकी पहचान भी समीक्षक को होनी चाहिए और समीक्षा में उन पर भी विचार व्यक्त किये जाने चाहिए। इनके अतिरिक्त प्रस्तुति में प्रयुक्त चाक्षुष कथ्य के किस भाग पर अधिक बल देते हैं और उनके आधार पर निर्देशक की व्याख्या कथ्य के कितने अंश को रेखांकित करती है यह भी नाट्य समीक्षक के क्षेत्र में आता है और इस विवेचन में स्वतः प्रस्तुति का मूल्यांकन हो जाता है। उसके मूल्यांकन में वस्तुनिष्ठ सन्तुलन भी बना रहता है और कृतिकार व निर्देशक दोनों के प्रति समीक्षक के दायित्व का निर्वाह हो जाता है।

प्रस्तुति में आनुषंगिक प्रभावों की चर्चा करते समय समग्र प्रभाव में उनकी सार्थकता, प्रासंगिकता और महत्त्व का ठीक-ठीक विवेचन किया जाना चाहिए। कभी-कभी नाट्य समीक्षाओं में इनके संदर्भ केवल इनके ज्ञान का प्रमाण मात्र होते हैं। मंचसज्जा को प्रस्तुति की माँग के संदर्भ में ही देखना चाहिए या फिर प्रयोग के रूप में। ध्वनि प्रभाव संगीतमय होने की अपेक्षा प्रस्तुति के मूल स्वर को मुखरित करते हुए रंगलय में समयानुकूल आबद्ध होने चाहिए। प्रकाशमय प्रभाव रंगदीपन के विभिन्न उपकरणों के माध्यम से उपलब्ध किये जाते हैं और आधुनिक रंगमंच मंच प्रकाश का सार्थक उपयोग करता है। विशिष्ट प्रभावों से रेखांकित दृश्यों का निर्देशक की व्याख्या से सम्बन्ध रहता है। अतः उन प्रभावों की चर्चा के साथ विशिष्ट व्याख्या का संदर्भ सदैव जुड़ा रहना चाहिए।

नये नाटक के संदर्भ में समीक्षक का कार्य दोहरा होता है। कृति का सविस्तार मूल्यांकन और निर्देशकीय व्याख्या का विचार। इन दोनों दायित्वों को निभाते हुए

समीक्षक कृति के सभी पक्ष को उजागर करता है। नाट्य समीक्षा में कृति के साहित्यिक विवेचन को असन्तुलित रूप से अधिकांश देना स्वच्छ समीक्षा नहीं है। नाटकों की पुनरावृत्ति करती हुई प्रस्तुतियों में निर्देशकीय व्याख्या की मौलिकता प्रमुख बिन्दु होना चाहिए। ऐसा करने के लिए नई कृतियों की विभिन्न निर्मितियों से समीक्षक को संपृक्त रहना होगा। समीक्षा प्रकाशित करने वाले पत्र-पत्रिकाओं में रंगमंच को लेकर सम्पादकीय नीति के अभाव में समीक्षाएँ केवल कुछ सुरुचिसम्पन्न पत्रकारों का मानसिक विलास मात्र रह जाती है। रंचमंच के सम्यक् विकास के साथ यह स्थिति भी नहीं रहेगी और अच्छे समीक्षक रंगमंच के सजीव सम्पर्क से निश्चित रूप से लाभान्वित होंगे।

हिन्दी का अपना सशक्त रंगमंच नहीं बन पाया है। आधुनिक हिन्दी नाट्य लेखन भी पर्याप्त रूप से रंगमंच को पोषित नहीं कर रहा है। इसीलिए भारतीय रंगमंच की ही बात की जाती है जिसमें सभी क्षेत्रीय भाषाओं के रंगमंच व विदेशी नाटकों के अनुवाद आदि की चर्चा की जा सकती है। समीक्षाओं का स्तर पत्रकार समीक्षकों के हाथों में गम्भीर होने के बजाय सुपाठ्य नाट्यवृत्त प्रस्तुत करने तक ही पहुँच सका है। हिन्दी रंगमंच नाट्यलेखन व नाट्य समीक्षा में ये सभी बातें आपस में जुड़ी होते हुए भी वर्गीकृत व समीक्षक पारस्परिक सम्पर्क स्थापित कर एक सामूहिक दायित्व का वातावरण नहीं बना सके हैं जो कि रंगमंच के सम्यक् विकास की दिशा में महत्त्वपूर्ण स्थिति होती है।

नाटक तथा आलोचना का सन्दर्भ

नाटक की विडम्बना यह नहीं कि उसे अपने जन्म के लिए अथवा जन्म लेकर अपने पोषण के लिए उचित परिवेश नहीं मिला है। और न ये कि नाटक के लिए दर्शक अथवा लेखक का अभाव है। उसकी विडम्बना इतनी भर है कि जो लोग नाटक को समझते हैं और समझकर दूसरों को समझा सकते हैं—उन्होंने या तो नाटक पर कुछ लिखा नहीं या फिर इतना कम लिखा है कि वह नाटक का दर्शक अथवा पाठक से सीधा साक्षात् कराने में सर्वथा अक्षम है। आलोचक का कार्य दोहरा होता है। वह जहाँ एक ओर रचनाकार की प्रौढ़ता को बढ़ाता है वहीं दर्शक को सही ढंग से सोचने-समझने का निर्देश देता है और साथ ही निर्देशक भी उससे सही अर्थों में चौकन्ना होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आलोचना का सही रूप सशक्त कृति का जन्मदाता होता है।

नाट्यालोचक से जाने-अनजाने नाटक की पहचान खो गई है। नाटक को पहचानने की यह शक्ति उसके हाथ से छूट गयी है और वह बिना उसे पाने की परवाह किए अपने भीतर की शेष शक्ति का उपयोग कर 'नाटक' के अर्थ का दुरुपयोग करता जा रहा है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि नाटक की आलोचना तथा उपन्यास अथवा कथा साहित्य की आलोचना पढ़ने पर कहीं ऐसा नहीं लगता कि दोनों दो विधाएँ हैं। आलोचना के इस गड्ड-मड्ड रूप का ही यह प्रभाव है कि कितने ही नाटक, नाटक होते-होते उपन्यास हो जाते हैं अथवा कहानी जैसी कोई चीज बन जाते हैं। इस बात को कहते हुए मैं उस चर्चा को कहीं भूल रहा हूँ जिसमें आलोचक रंगमंच का नाम भी लेता है। किन्तु किसी चीज का नाम भर लेने से उसकी आलोचना नहीं हो जाती। आलोचकों में अधिकांश वे हैं जिन्होंने रंगमंच को देखा ही नहीं उसे पहचानने और पहचानकर समझने की बात तो दूसरी चीज है।

यहाँ मुझे बात नाटक से आरम्भ करनी होगी और केवल नाटक की ही करनी होगी। यानी मुझे नाटक को समझना होगा और उसी आधार पर आलोचना को भी। रंगमंच उसी आलोचना के भीतर से स्वतः उभरता दिखाई देगा—जबकि हम नाटक के अतिरिक्त किसी और को समझने का प्रयास करेंगे ही नहीं। किन्तु नाटक की बात करने के लिए हमें यह समझना होगा कि यह साहित्य की दूसरी विधाओं से किस प्रकार और कहाँ तक कोई अलग विधा है? नाटक को दूसरी विधाओं की

सापेक्षता में पहचानने का हमारा यह प्रयास जितना और जैसा हमें स्पष्ट हो सकेगा नाटक की आलोचना उतनी ही सशक्त होकर दर्शक को अपनी पहचान स्पष्ट करा सकेगी। किन्तु इससे भी पहले हमें यह बात जान लेनी होगी कि सम्पूर्ण साहित्यिक विधाओं में जिसे हम 'साहित्य' कहते हैं वह है क्या चीज ? यानी हमें यह जानना होगा कि किसी भी कृति की साहित्यिकता क्या है और वह विधाओं में कैसे जानी पहचानी जा सकती है। हमें यह भी जानना होगा कि कृति कहाँ आकर साहित्यिक नहीं रहती और उसके साहित्यिक होने का अभिप्राय क्या है ? किन्तु यहाँ मुझे स्पष्ट कहना होगा कि मैं साहित्य की बात उठाकर किसी पाण्डित्यपूर्ण अथवा शास्त्रीय परिभाषाओं के ऊहापोह में नहीं भटकना चाहता। मेरा तात्पर्य जीवन से जीवन का परिचय कराना भर है।

मैं ये मानकर चला हूँ कि व्यक्ति और जीवन एक-दूसरे के पर्याय नहीं हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके जीवन जीने की विवशता के बीच निरन्तर एक द्वन्द्व की स्थिति बनी रहती है। और वही स्थिति उसके जीवन विकास के लिए आवश्यक भी मानी जाती रही है। यह द्वन्द्व जैसा और जिस अनुपात में स्पष्ट होता है, जीवन जीने की प्रक्रिया भी उसी अनुपात में संवेदनीय होती है। किन्तु द्वन्द्व की यह स्थिति निरपेक्ष और नितान्त व्यक्ति स्तर पर उत्पन्न नहीं होती, इसकी उत्पत्ति के लिए संपूर्ण परिवेश तथा व्यक्ति के पूरे संस्कार उत्तरदायी होते हैं। इस उत्तर-दायित्व की पहचान जितनी अधिक जानी-पहचानी और भीतरी होगी—जीवन जीने की सम्पूर्ण प्रक्रिया उतनी ही अधिक सहानुभूति प्राप्त करेगी। द्वन्द्व की यह निरन्तरता तथा संवेदनीयता ही किसी कृति को साहित्यिक होने का प्रमाण-पत्र दे सकती है। व्यक्तित्व और जीवन का यह द्वन्द्व जीवन प्रक्रिया के भीतर से जितना और जिस प्रकार से उभरता हुआ पाया जायगा, वह कृति साहित्य के उतने ही समीप होगी। साहित्यिक विधा का जो भी विधान जितना और जिस अनुपात में जीवन तथा उसके जीने की इस प्रक्रिया की संगति को कायम रख सकेगा—वह विधा भी उसी अनुपात में अधिक साहित्यिक होकर सामने आएगी अर्थात् साहित्यिकता की पहचान के लिए किसी भी कृति में जिए गए जीवन और उसके जीने की प्रक्रिया के बीच उत्पन्न द्वन्द्व को (जीवन के स्तर पर) पहचानना होगा। यह पहचान पाठक को जितनी अपनी और निजी प्रतीत होगी, कृति उतनी ही मूल्यवान होगी। विस्तारमय होते हुए भी व्यक्ति द्वारा जीवन जीने की इच्छा तथा उसी व्यक्ति द्वारा जीवन जीने की विवशता को थोड़ा और स्पष्ट करना आवश्यक है। यहाँ हमें अपने आपसे एक प्रश्न करना होगा। प्रश्न यह कि व्यक्ति और उसका जीवन क्या एक ही बात है ? अथवा व्यक्ति के जीवन और उसके जीवन जीने की इच्छा के बीच कहीं कोई द्वन्द्व (तनाव) उत्पन्न नहीं होता ? अथवा व्यक्ति का जीवन कितना और किस अनुपात में उसका अपना है ?

यहाँ एक ही प्रश्न को जिस अलग-अलग ढंग से उठाया गया है, उसका एक

खास कारण है। एक प्रश्न तीन बार उठता है और तीनों बार अपने आप से टकराता है। एक ही प्रश्न के इस आपसी आघात से कहीं कोई बात फूटती है, 'इमर्ज' होती है। मैं समझता हूँ कि वह 'इमर्ज' हुई बात ही उस द्वन्द्व का एहसास कराती है जो जीवन और प्रक्रिया अथवा पद्धति के बीच जन्म लेता है, फैलता है और फट पड़ता है। द्वन्द्व का यह फटना जीवन की गति का कारण बनता है। जिस जीवन का द्वन्द्व जितना और जिस अनुपात में फटेगा उसके जीवन की गति भी उतनी ही तेज और स्पष्ट होकर सामने आएगी। कहा जा चुका है कि द्वन्द्व का यह 'जन्मना' 'छा जाना' और 'फट पड़ना' नितान्त व्यक्तिगत और निरपेक्ष नहीं होता, समाज सापेक्ष होता है—इसलिए इसके धमाके की पहचान भी समाज को होती है और वही उसके फटने की प्रक्रिया को झेलता भी है। झेलने की यह विवशता उसके भीतर अनुभव को जन्म देती है और यहाँ यह कहा जा सकता है कि जीवन तथा उसको जीने का ढंग उसके अपने अनुभव को छू लेता है। जिस कृति में जीवन तथा उसके जीने का ढंग उसके अनुभव को छू लेता है उसके प्रति उसका लगाव भी उसी अनुपात में बढ़ जाता है। यह सब होता है, हो सकता है किन्तु साहित्यिक विधा में न तो थीम के माध्यम से होती है और न लेखक की शैली के माध्यम से। कथा के माध्यम से तो बिल्कुल नहीं होती। साहित्य में इसकी सीधी पहचान साहित्य के विधान के माध्यम से होती है। इसलिए हमें किसी भी कृति की समीक्षा, उसकी चर्चा अथवा उसकी आलोचना करने से पहले उस कृति के विधान की चर्चा करनी होगी। हमें यह समझना होगा कि किस प्रकार विधान किसी भी कृति में जीवन तथा उसके जीने के ढंग को अपने भीतर समाहित कर स्वयं एक कृति का रूप धारण कर लेता है? हमें यह भी समझना होगा कि जिसे हम कृति कहते हैं वह कोई पुस्तक नहीं है जिसमें अनेक कागज के पन्ने हैं—बल्कि एक विशेष साहित्यिक विधा का विधान है जिसके भीतर कोई जीवन जी रहा है, जूझ रहा है। जीवन यदि गतिशील है तो उसकी गति भी विधान के समानान्तर-समीपस्थ होने में है। और यहाँ हमें सर्जनात्मक अभिप्राय या सर्जना की परस्पर अभिन्नता और उन दोनों को एक-दूसरे में घुल-मिलकर परिचालित होने की स्थिति को पहचानना तथा उसके ऐसा होने के बोध को साथ लेकर चलना होगा।

यहाँ यह भ्रम नहीं हो जाना चाहिए कि मैं कथा की उपेक्षा करके जीवन की उपेक्षा कर रहा हूँ। सच तो यह है कि कथा, कथा से अधिक कुछ होती ही नहीं। ऊपर कहा जा चुका है कि जिसे हम साहित्य कहते हैं वह जीवन तथा उसके जीने का एक ढंग होता है—जिसकी कोई कथा नहीं होती। उसके भीतर कथा का न होना इसी बात से सिद्ध है कि न तो उसके बहने की दिशा निश्चित है और न गति। यदि डा० नित्यानन्द तिवारी के शब्दों में कहूँ तो जीवन की गति ज्वालामुखी के फटने की तरह अज्ञात और अनिश्चित होती है। वह फटता है, फैलता है और फैलकर जितनी भूमि को जलाकर उपजाऊ बना सकता है, बनाता है। पास की बंजर भूमि यदि यह शिकवा करे कि उसे क्यों नहीं उपजाऊ बनाया तो यह उसकी अपनी गलती है।

कथा उस बंजर की भी थी जो उपजाऊ बनी और उसकी भी जो उपजाऊ नहीं बनी। पर जीवन उस ज्वालामुखी का ही है जो फटा और फटकर फैल गया। कथा केवल निश्चित और गतिहीन होती है जबकि जीवन सतत और गतिशील है, जो रुकना जानता ही नहीं। जो लोग जीवन की कथा कह रहे होते हैं—उन्हें जीवन का अन्तर समझना होगा। उन्हें यह समझना होगा कि व्यक्ति का जन्म लेना अथवा मर जाना-जीवन का जन्म लेना और मर जाना नहीं है। इस बात का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा कि किसी भी साहित्यिक कृति के पात्र किसी युग में अपना जीवन-अस्तित्व न रखते हुए भी हर युग में एक जीवन-संदर्भ उद्घाटित करते चलते हैं। किन्तु यहाँ एक प्रश्न उठाया जाना चाहिए कि यदि हम यह मानते हैं कि जीवन सतत है और रुकना नहीं जानता तो फिर एक 'युग' दूसरे युग से क्यों बदल जाता है? प्रश्न यह भी तो हो सकता है कि एक युग का जीवन दूसरे युग के जीवन से कहाँ भिन्न है और क्यों भिन्न हो जाता है? प्रश्न कुछ भी हो लेकिन उसके उत्तर में मुझे बात विधान की ही करनी होगी। यानी कि मुझे जीवन और उसके 'पैटर्न' के बीच के द्वन्द्व की बात करनी होगी। और सच तो यह है कि जीवन बदलता ही नहीं—उसका 'पैटर्न' बदल जाता है। जीवन और उसके 'पैटर्न' का द्वन्द्व (सर्जना के स्तर पर) में तथा जीवन और 'पैटर्न' की सुसंगति (कृति के स्तर पर) की पहचान में कहीं कोई विचलन दिखाई देने लगता है। और इस प्रकार एक युग का विधान दूसरे युग में उसी अनुपात में अग्राह्य हो जाता है जितना और जिस अनुपात में उस युग का जीवन अपने से पहले युग के जीवन से, उसके जीने के ढंग से भिन्न होता जाता है। और विधान यदि युग बोध है तो उसके भीतर के सम्पूर्ण जीवन उसी के भीतर से निसृत होगा, झरेगा।

विधान के अर्थ में भी भ्रम नहीं होना चाहिए। एक तो मैं विधान को नितान्त ठोस स्थिति नहीं मानता जिसकी रूपरेखा तैयार की जा सके, यहाँ विधान की स्थिति 'एब्सट्रैक्ट' (Abstract) अथवा भाव की अधिक है जिसे लेखक अनुभूति के स्तर पर गहराई से भोगता है और पाठक अथवा दर्शक अनुभव की सजगता के द्वारा उसे ग्रहण करता है। वह अमूर्त्त होते हुए भी मूर्तित होता है परन्तु उसकी प्राप्ति लेखक की अनुभूति और पाठक की सजगता के पारस्परिक साम्य के आधार पर होती है। यह कहने की आवश्यकता तो शायद नहीं है कि अनुभूति और अनुभव के बीच परस्पर साम्य की यह स्थिति परिवेश पैदा करता है, जिससे लेखक और पाठक दोनों के जीवन का सीधा सम्बन्ध होता है, होता रहा है। किन्तु साथ ही मैं यह भी मानता हूँ कि विधान केवल भाव की स्थिति नहीं है। वह भाव के मूर्तित होने की चेष्टा है और मूर्तित होकर एक विधा से दूसरी विधा को अलगाने की स्पष्ट पहचान है। अर्थात विधान ही एकमात्र साधक है जो किसी भी सर्जना को उसका होना सिखाता है, किसी भी सर्जक को सर्जना के लिए प्रेरित करता है और किसी भी आलोचक (पाठक को भी) का उस विधा से साक्षात् कराता है। विधान को एक तरफ भाव से जोड़कर और दूसरी तरफ उसके जीवित और मूर्तित होने की बात करके मैं परस्परविरोधी

बात कर रहा हूँ। फिर भी इस विरोध को मिटाना अभीष्ट नहीं है, इस विरोध का होना ही एक आवश्यकता है और विचित्र बात यह है कि कहीं भी यह विरोध द्वन्द्वात्मक नहीं होता बल्कि घुला-मिला होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि विधान के द्वन्द्व को नकारा जा रहा है—विधान हमेशा ही द्वन्द्वात्मक होता है किन्तु 'भाव' तथा 'ढाँचे' के बीच द्वन्द्व की स्थिति उसमें अक्सर नहीं होती—यह दूसरी बात है कि भाव ढाँचे के भीतर से झाँकता है या फूट पड़ता है। देखने पर यहाँ ऐसा लगता है कि भाव का ढाँचे के भीतर से फूट पड़ना दोनों के बीच द्वन्द्वात्मक स्थिति का आभास कराता है, क्योंकि फूट पड़ना और द्वन्द्व का न होना बड़ा सजीव लगता है। किन्तु ऐसा लगता है—ऐसा होता नहीं। जबकि होता यह है कि 'भाव' 'ढाँचे' को 'ढाँचा' उस 'भाव' को साध रहा होता है। उन दोनों की स्थिति एक दूसरे के संवाहक की होती है, परस्पर की संगति की होती है, न कि परस्पर टकराहट की। किन्तु विधान में द्वन्द्व होता है मैं यह भी कह चुका हूँ। द्वन्द्व भाव के धरातल पर तथा ढाँचे के धरातल पर अलग-अलग होता है और भीतरी होता है। यानी कि भाव, भाव से टकराता है; दृश्य-दृश्य से टकराता है और अर्थ के सन्दर्भ उद्घाटित होते चले जाते हैं। अर्थ के सन्दर्भों का उद्घाटित होना ही किसी कृति की साहित्यिकता का निर्णायक होता है और उन अर्थ सन्दर्भों को पकड़ना तथा पकड़कर उनकी पहचान दूसरों को कराना आलोचक का प्रमुख कर्त्तव्य है। और यहाँ आकर ही उसका कार्य दोहरा आयाम ले लेता है। एक ओर वह अर्थ सन्दर्भों को रोकता है दूसरी ओर जीवन से उनकी संगति की पहचान करता और करवाता है।

इस सब चर्चा के बाद दो बातें सामने आती हैं। पहली यह कि जीवन और उसकी प्रक्रिया के बीच निरन्तर एक द्वन्द्व की स्थिति ही साहित्यकार को सृजन की ओर उकसाकर उसे सिरजने के लिए विवश करती है और जीवन तथा 'पैटर्न' की परस्पर की संगति ही किसी कृति के साहित्यिक होने का प्रमाण हो सकती है, होनी चाहिए। यह एक ऐसी बात है जो तमाम साहित्यिक विधाओं को एक ही धरातल पर खड़ा करके समानधर्मी घोषित करती है। दूसरी बात, विधाओं के अलगाव को लेकर कही गई है जिसमें यह बताया गया है कि केवल विधान की भिन्नता ही साहित्यिक कृति की अलग-अलग विधाओं की ओर संकेत करती है। यहाँ यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि कोई भी साहित्यकार किसी भी बात को किसी भी विधा में कह सकता है। वास्तव में हर बात का (जीवन की हर बात का) अपना एक विशेषत्व होता है, गुण होता है और उस गुण के अनुरूप ही उसका अपना आकार निर्मित होता है। यह सच है कि हर बात साहित्यकार को एक अपना विशिष्ट विधान चुनने के लिए विवश कर रही होती है। इसलिए यह भी सच है कि साहित्यकार किसी बात को कहने के लिए कुलबुलाता रहता है और कोई दर्द उसे सालता रहता है और फिर वह उस विधान का चुनाव करता है जिसके भीतर से उसकी वह कुलबुलाहट जी उठे और उसका दर्द फूट पड़े। इस प्रकार 'बात' और 'विधान' की एक दूसरे के लिए

परस्पर माँग रही है जो सर्जना का आवश्यक तत्त्व होती है और जो पूरी रचना के 'पर्सपेक्टिव' का निर्धारण करती है। आलोचक की पकड़ उस माँग से ही शुरू होती है और वही उसे किसी विधा का आलोचक सिद्ध करती है, कर सकती है। यह बात नाटक के सन्दर्भ में और भी सही है। इसलिए नाटक के आलोचक को नाटकीय विधान के भीतर निहित नाटक की बात की भी परख करनी होगी कि वास्तव में वह बात नाटक की बात हो सकती थी या नहीं ? इतना कहने के बाद मुझे यह बताना चाहिए कि नाटकीय विधान, अन्य विधाओं के विधान (मुख्यतः कथा साहित्य के विधान) से किस प्रकार भिन्न है ? किन्तु इससे भी पहले मुझे यह बताना होगा कि नाटक में भाव के धरातल पर 'विधान' तथा 'ढाँचे' के धरातल पर 'विधान' कहाँ, किस प्रकार और कैसा होता है ?

विधान का भावपक्षीय (भाव का अर्थ यहाँ काव्य-शास्त्र का भावपक्ष नहीं है) धरातल वहाँ से प्रारम्भ होता है जहाँ केन्द्रीय उपकरण तथा बाहरी आचार-विचार एक बिन्दु पर ठहरकर किसी एक बात की ओर संकेत करने लगते हैं तथा 'ढाँचे' के धरातल पर किसी भी नाटक का विधान उन दृश्यों की गति के रूप में पहचाना जा सकता है जो किसी बात के विकास को मूर्तित करते हुए देखे या समझे जा सकते हैं। बात को थोड़ा और स्पष्ट करने के लिए मुझे 'शब्द' की चर्चा करनी होगी। यानी कि मुझे यह बताना होगा कि जहाँ पर शब्द अपने होने का बोध कराते हैं और दृश्य और 'शब्द' बोलते हुए दौड़ते तैरते हैं वहाँ नाटक अपने विधान में बाहरी और ठोस (ढाँचा) होता है किन्तु जहाँ 'शब्द' और 'दृश्य' दोनों मौन होकर अपने प्रत्यक्ष अर्थ के पीछे झाँकते हुए किसी और अर्थ की ओर संकेत करते हैं वहाँ नाटक अपने विधान में भीतरी होता है और गहरा (भाव) होता है। 'अज्ञेय' कहते हैं 'शब्द अधूरे हैं, उच्चारण माँगते हैं, लेकिन शब्दों के अन्तराल, पदों वाक्यांशों की गति के मौन में एक शक्ति है जो उच्चारण के अधूरेपन को ढक देती है....'। यहाँ जो शब्द का अधूरापन है, जो अनुच्चरित शब्द है, शक्ति है, यानी कि जो मौन है—जो शब्द के अधूरेपन को दूर करता है, वही नाटक के विधान का भावपक्षीय धरातल है। बाकी जो सभी कुछ है, वह उसके विधान का बाहरी पक्ष है, उसका ढाँचा है। इतना कहने के बाद यह कहने की तो आवश्यकता नहीं रह जाती कि नाटक अपने विधान की इस दोहरी चाल के कारण ही साहित्य की अन्य विधाओं से अपना एक विशेष अलगाव रखता चलता है। साहित्य की किसी भी अन्य विधा में विधान का यह दोहरापन इतना अलग-अलग और इतना परस्पर सापेक्ष एकही साथ नहीं होता। उसके अलगाव की दूसरी और प्रत्यक्ष पहचान नाटक की परिभाषा की चर्चा करने पर समझी जा सकती है।

भारतीय नाट्य परम्परा नाटक के लिए अभिनय को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ठहराती है। जो अभिनीत है—वही नाटक है। इस बात से नाटक के विषय में एक तथ्य उद्घाटित होता है। दूसरा तथ्य नाटक के विषय में पश्चिमी दृष्टिकोण को

लेकर उद्घाटित होता है जिसमें नाटक का उद्देश्य 'प्रकृति को दर्पण दिखाना' कहा गया है। वस्तु का अभिनीत होकर नाटक बन जाना तथा नाटक द्वारा प्रकृति को दर्पण दिखाना दो तथ्यों की परस्पर और समानान्तर अवधारणा की ओर संकेत करते हैं। संस्कृत का नाट्यालोचक अभिनय को नाटक मानने के बाद 'अभिनय' की परिभाषा करता है। 'भवेदभिनयो वस्थानुकारः' कहकर वह अभिनय को अवस्था का अनुकरण मान लेता है फिर उस अवस्था के अनुकरण की चार विधियाँ गिनाता है जो क्रमशः आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक के नाम से जानी जाती रही हैं। ये चार विधियाँ क्या हैं, इस पर यहाँ चर्चा नहीं होगी, किन्तु अवस्था के अनुकरण की बात का अपना एक महत्त्व है जिसको लिए बिना अपनी बात नहीं कही जा सकती। यह अवस्था का अनुकरण है क्या ? कोई कैसे और क्यों इसका अनुकरण करता है ? ये दोनों प्रश्न नाटक के विधान को समझने में महत्त्वपूर्ण योग दे सकते हैं और जैसे ही हम प्रश्न का उत्तर खोज निकालते हैं तो रास्ते में ही खड़ी नाट्य विषयक पश्चिमी विचारधारा आ टकराती है। अरस्तू भी नाटक को अनुकरण ही कहता है, जिसके सिद्धान्त की परिभाषा सिसरो ने की है। सिसरो नाटक को जीवन के प्रति रिवाजों का दर्पण तथा सत्य का प्रत्यावर्त्तन मानता है। इसी एक बिन्दु पर शेक्सपियर के हैमलेट की वह अवधारणा स्पष्ट उभरती है जिसमें वह नाटक का उद्देश्य प्रकृति को दर्पण दिखाना मानता है। यानी कि कुल मिलाकर नाटक 'अनुकरण' ठहरता है, प्रतिकृति ठहरता है। परन्तु इतना कहने भर से प्रश्न का हल नहीं हो जाता, प्रश्न प्रश्न अवस्था तथा प्रकृति को लेकर तथा स्वयं अनुकरण को लेकर भी उठता है कि यह सब है क्या ? अवस्था की भी पहले बात करनी होगी। यानी हमें अपने आप से यह पूछना होगा कि यह प्रकृति है क्या ? जब हम अपने आपसे यह प्रश्न करेंगे तो हम अपने आपको एक विचित्र-सी स्थिति में पाएँगे। जहाँ तक हो सकेगा ऐसी स्थिति में पाएँगे जो अपने ही आपको खुद पहचानने और पहचानकर समझाने वाली स्थिति होगी। तब यह स्थिति हमारे भीतर एक द्वन्द्व के जन्मने की स्थिति को जन्म दे रही होगी। प्रश्न अथवा द्वन्द्व के जन्मने की हर स्थिति व्यक्ति के अहं और उसके अपने अहं को समाज के अनुकूल गढ़ने के बीच की अथवा न गढ़ पाने की मनःस्थिति (अवस्था) होती है। इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि नितान्त व्यक्तिगत स्तर पर उठे हुए तमाम प्रश्न भी अपना उत्तर किसी की सापेक्षता में ही खोजते हैं और जो प्रश्न की सापेक्षता में उठते हैं वे तो और भी अधिक (अपने उत्तर के लिए) सापेक्षता का प्रमाण तथा विश्लेषण चाहते हैं। यानी कि वह स्थिति किसी प्रश्नात्मक स्थिति में जूझने की स्थिति होगी और वही व्यक्ति के भीतर किसी प्रश्न का उत्तर पाने की अकुलाहट होगी जो उसकी स्थिति को प्रतिक्षण परिवर्तित करती चलेगी। परिवर्तित होते चलने की अथवा प्रश्न और उत्तर के बीच की अनिश्चयात्मक स्थिति ही किसी व्यक्ति की '**अवस्था**' हो सकती है। व्यक्ति और अवस्था के बीच का यह

द्वन्द्व ही 'प्रकृति' है तथा व्यक्ति, अवस्था तथा प्रकृति की यह परस्परता ही अनुकरणीय है, नाटकीय है।

प्रकृति के विषय में हमारी एक काव्यात्मक अवधारणा रही है कि मानव कहीं भी खुले प्रांगण में विशेष रूप से) खड़ा होकर जितनी दूर तक जो कुछ भी देख सकता है, जैसा कुछ भी अनुभव कर सकता है, वह प्रकृति है। प्रकृति मानव के सामने सीना खोले इसी अर्थ में खड़ी रह सकती है तथा वर्ड्सवर्थ की प्रकृति भी इसी अर्थ में मनुष्य को सब कुछ सिखा सकती है। मनूष्य को ! यानी कि उसको --जो प्रकृति नहीं है। इसका यही अर्थ हुआ ? यहाँ मानव और प्रकृति की स्थिति एक दूसरे के आमने-सामने की पड़ती है। यानी कि मानव स्वयं अपने आपको नहीं देख सकता इसलिए वह प्रकृति होने से बच जाता है। यही प्रकृति के लिए भी सच है—क्योंकि वह भी मानव को देख सकती है—स्वयं को नहीं। इस प्रकार प्रकृति और मानव एक दूसरे के विरोध में पड़ते हैं। उनका बिरोध एक दूसरे के होने को कायम रखता है। वे कितनी ही बार एक दूसरे के बिना अधूरे हैं, अपूर्ण हैं। इस प्रकार प्रकृति यदि मानव को उसकी अवस्था की पहचान कराती है तो मानव प्रकृति को उसका रूप अथवा कुरूप दिखाता है और दोनों एक दूसरे को दिखाते हैं। यह एक बात है। दूसरी बात अनुकरण को लेकर है। अनुकरण वहाँ से आरम्भ नहीं होता जहाँ तक मानव और प्रकृति एक दूसरे की परस्परता में, एक दूसरे को जानने-पहचानने की द्वन्द्वात्मक स्थिति में जी रहे होते हैं; अपितु अनुकरण वहाँ जन्म लेता है जहाँ 'भोगने वाले प्राणी के समानान्तर-समीपस्थ किसी रचना करने वाले कलाकार का जन्म होता है। शायद इसलिए तो—' भोगने वाले प्राणी तथा रचना करने वाले कलाकार में सदैव एक अन्तर होता है और यह अन्तर जितना बड़ा होता है—वह उतना ही बड़ा कलाकार होता है। कलाकार का यह अन्तर इलियट के लिए चाहे जिस अर्थ में रहा हो, किन्तु नाटक की सर्जना के लिए रचना करने वाला कलाकार भोगने वाले प्राणी का जितना और जिस अनुपात में अनुकर्त्ता होगा, नाटक की सर्जना भी उसी अनुपात में प्रकृति को उसका सही रूप दिखा रही होगी, और उसका वह अनुकरण उतना ही बड़ा नाटक होगा। इस प्रकार नाटक में प्रकृति केवल मनुष्येतर यथार्थ नहीं होती और न ही मनुष्य की अवस्था प्रकृत्येत्तर कोई स्थिति होती है, अपितु मनुष्य स्वयं प्रकृति के भीतर की एक 'अवस्था' हो जाता है और 'प्रकृति' मनुष्य के भीतर से 'इमर्ज' होती हुई मनःस्थिति। यही कारण है कि नाटक का बाहर और भीतर एक दूसरे के होने की परस्पर आवश्यकता का ही पर्याय होता है।

नाटक के अनुकरण होने की बात यहाँ आकर स्पष्ट हो जाती है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस अनुकरण के माध्यम से नाटक का रचनाकार (केवल लेखक ही नहीं, खेलने वाला भी) भोगने वाले प्राणी (वह नाटककार स्वयं भी हो सकता है किन्तु उस स्थिति में उसके रचना करने वाले कलाकार और भोगने वाले प्राणी को एक दूसरे के प्रति निर्मम होना होगा) की बात कह रहा होता है, उसके

भोगे हुए जीवन का प्रस्तुतीकरण वह कर रहा होता है। भोगे हुए जीवन का यह प्रस्तुतीकरण साहित्य की किसी अन्य विधा में नहीं होता या उस तरह से नहीं होता जिस तरह नाटक में होता है। दूसरी अन्य विधाओं में यदि प्रस्तुतीकरण होता भी है तो वह जीवन का कोई मूर्तित रूप नहीं होता, उसकी कोई झाँकी नहीं होती अपितु जीवन की एक हलचल अथवा उसके किसी एक क्षण का एहसास होता है जिसे पाठक भोगता है, देखता नहीं। दूसरे, नाटक में उसी तरह प्रस्तुतीकरण होता है जिस तरह दर्पण चेहरे को उसका अपना रूप दिखा देता है। जिस प्रकार दर्पण के बिना प्रतिच्छाया नहीं उभर सकती उसी प्रकार नाटक के विधान के बिना जीवन की वह बात नहीं कही जा सकती जो भोगने वाले प्राणी की सार्वजनिक बात है। सार्वजनिक शब्द से चौंकने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि नाटक की नाटकीयता ही यही है कि यह नितान्त व्यक्तिगत बात को भी सार्वजनिक किए बिना प्रस्तुत ही नहीं कर सकता जबकि दूसरी विधाएँ ऐसा कर सकती हैं। और यदि वह (नाटक) ऐसा नहीं कर सकता तो हमें यह मानना पड़ेगा कि नाटक ऐसा दर्पण है जिसका पृष्ठ भाग दिखाई नहीं देता, जो दिखाई देता है वह केवल प्रत्यक्ष है, सामने है। और इसी एक बिन्दु पर आकर वह दर्शक के अनुभव संगठनों को दर्पण दिखाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाटक में दर्शक भी अपना चेहरा देखता रहे और अभिनेता तथा निर्देशक भी। नाटक में जब तक दर्शक, अभिनेता और भोगने वाले प्राणी का चेहरा कहीं एक दूसरे का स्थान नहीं ले लेता तब तक रचना करने वाला कलाकार रचना के स्तर पर नाटककार नहीं हो सकेगा।

यहाँ आकर जैसे ही हम नाटक की आलोचना शुरू करते हैं वह पूरे नाट्य ('थियेटर) की आलोचना होने लगती है। यानी कि दर्शक, अभिनेता और मंच भी नाटक की आलोचना में उभर चुका होता है। इसलिए यदि आलोचक को नाट्य-विधान का ज्ञान नहीं है तो उसके लिए नाटक और उपन्यास अथवा कहानी में कोई अन्तर नहीं रह जाता। अर्नोल्ड कैटिल ने उपन्यास के लिए एक परिभाषा दी है कि उपन्यास किसी भी अन्य जीव की तरह अपने आपमें सम्पूर्ण चीज है। यह परिभाषा स्पष्ट कर देती है कि उपन्यास यदि एक जीवित चीज है और पूरी की पूरी एक है तो नाटक इस तरह की जीवित चीज नहीं है। नाटक का अपना एक 'आर्गेनिज्म' तो है किन्तु उसका 'आर्गेनिज्म' तथा उपन्यास का 'आर्गेनिज्म' दो अलग-अलग बातें हैं। मैं कह चुका हूँ कि नाटक जीवित चीज को जीवित रखने का माध्यम है जिसके सम्पूर्ण विधान के भीतर से कोई जीवित चीज 'इमर्ज' होती है। दूसरे, उपन्यास स्वयं एक जीवित विधान है, जिसका बन जाना ही एक जीवन है, एक बात है। इसलिए जब हम उपन्यास की आलोचना करें तो निश्चित रूप से ऐसा लगना चाहिए कि हम किसी जीवन तथा उसके 'पैटर्न' की बात कर रहे हैं, किन्तु नाटक की आलोचना से हमें स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हम किसी जीवन तथा 'पैटर्न' के 'रिलिवैंस' से भी अधिक उस 'पैटर्न' के वाहक की बात कर रहे हैं। इसलिए जिन छः या सात तत्वों को

हम उपन्यास की आलोचना के घटक मानकर (यद्यपि यह उपन्यास के लिए भी गलती है) उसकी आलोचना करते आ रहे हैं—वे नाटक के तत्त्व तो हैं ही नहीं।

नाटक के आलोचक चरित्र-चित्रण अथवा चरित्र सृष्टि पर सर्वाधिक जोर देते रहे हैं। उपन्यास के आलोचक भी यही करते हैं। किन्तु 'चरित्र' किसी भी नाटक का तत्त्व नहीं है। और आज तो बिल्कुल भी नहीं। वह नाटक के भीतर से 'इमर्ज' होने वाले किसी जीवन की पहचान भर हो सकती है जिसकी कोई स्पष्ट रूपरेखा खींच देना और उन्हीं रेखाओं के बीच उस पहचान को पैबस्त कर देना—जीवन की अपनी पहचान पर सबसे बड़ा आघात होगा। यह होता रहा है। यह पहचान संस्कृत परम्परा के नाटकों में चरित्र-चित्रण इसलिए बन गयी क्योंकि नेता (नाटक) विषयक उसकी अपनी अवधारणा निश्चित और केवल निश्चित हो चुकी थी। नाटक में जब कभी भी जीवन की यह पहचान किसी बाहरी आकार में पैबस्त करके देखी जाने लगी तभी से नाटक अपनी मृत्यु की ओर बढ़ने लगा। विस्मय होता है कि संस्कृत की सशक्त विधा नाटक, जिस बिन्दु पर आकर मर गयी उसके बाद फिर जीवित नहीं हुई। याद रखना चाहिए कि हिन्दी नाटक का जन्म संस्कृत नाटक से नहीं हुआ है, संस्कृत पर किए गए पश्चिमी नाटक के आघात से हुआ है। आज तो जीवन में व्यक्ति से व्यक्ति की पहचान ही खो गई है इसलिए नाटक में हर जगह कुछ मानसिकताएँ जन्म लेती हैं, छा जाती हैं और छायी रहती हैं। 'लहरों के राजहंस' इसका सबसे सशक्त उदाहरण है, जिसके सम्पूर्ण विधान में कुछ मानसिकताएँ तैरती हैं, टकराती हैं और रोगग्रस्त हो जाती हैं। न तो वे मरती हैं और न फटती हैं। मानसिकता की यह चर्चा नाटक-विषयक अवधारणा को उपन्यास अथवा कहानी के विधान से और भी स्पष्ट करके अलगाती है और यदि गहराई से देखा जाए तो नाटक में चरित्र हो ही नहीं सकते। नाटक में केवल मानसिकताएँ 'इमर्ज' होती हैं जिन्हें खेलने वाले धारण करते हैं, निर्देशक पचाता है, और पूरा मंच उसका अनुकरण करने लगता है। यानी कि नाटक का अनुकरण दर्शक की मानसिकताओं के आधार पर ही करता है। इस बात से कुछ लोग चौंक सकते हैं, किन्तु इसमें चौंकने की कोई बात नहीं है। यदि नाटक का महत्त्वपूर्ण तत्त्व हम संवाद (जिसे मैं 'शब्द' कहता हूँ) भी मानते हैं तो हमें यह मानना होगा कि नाटक का सम्पूर्ण विधान मानसिकताओं का ही भावपरक-दृश्यात्मक विधान है और यह मानसिकता केवल सोचने के ही धरातल पर 'इमर्ज' नहीं होती, बोलने के धरातल पर भी 'इमर्ज' होती है तथा समझने के धरातल पर भी। किन्तु नाटक का पहला और महत्त्वपूर्ण तत्त्व (जो ऊपर माना जा चुका है) वहाँ है जहाँ कोई 'शब्द' नहीं होता किन्तु संवाद होता है। संवाद का अर्थ में व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के बीच हुए परस्पर के भाषिक वार्त्तालाप से नहीं ले रहा हूँ। मैं हमेशा ही सम्वाद को मानसिकता अथवा मानसिकताओं के वाहक के रूप में लेता हूँ। अर्थात् मानसिकताएँ अथवा एक ही मानसिकता (यद्यपि मानसिकता कभी अकेली नहीं होती)

जिस माध्यम के द्वारा बोली तथा समझी जा सकती है, उस माध्यम के रूप में ले रहा हूँ।

यह एक बात हुई जिससे एक नयी बात यह फूटती है कि उपन्यास की भाषिक संरचना भी, मानसिकताओं की भाषिक संरचना उतनी नहीं होती जितनी उसमें जीवन तथा 'पैटर्न' की 'रिलिवैंस' को कायम रखने की नियोजित तीव्रता पायी जाती है और लेखक का यही प्रयास उसे एक सुदृढ़ 'प्रोस्पेक्टिव' देता है। जबकि नाटक की भाषिक संरचना अपने प्रत्यक्ष अर्थ का अक्सर उपहास करती है। उसके इस उपहास के द्वारा उसके प्रत्यक्ष अर्थ के पीछे से एक अप्रत्यक्ष किन्तु आवश्यक अर्थ-योजना फूटती चलती है और वही सार्थक भी होती है।

उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि नाटक की आलोचना करने वाला व्यक्ति, कमरे में बैठकर नाटक की आलोचना नहीं कर सकता। **नाटक की आलोचना पुस्तक की आलोचना है ही नहीं।** वह पूरे नाट्य की आलोचना है जिसमें दर्शक से लेकर निर्देशक तक सभी आ जाते हैं। यानी कि वह सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार की आलोचना है। यही कारण है कि संस्कृत काल का नाट्यालोचक दर्शक के भी गुण-दोषों की विवेचना करता है। इसी एक स्थल पर आकर नाटक के आलोचक का कार्य दुहरा और तिहरा हो जाता है। इस प्रकार नाटक एक पूरा 'थियेट्रिकल प्रोसिस' बनकर उभरता है—पुस्तक के भीतर स्थिर एक 'थियेट्रिकल प्रोसेस'। प्रसाद के नाटकों पर जो पारसी रंगमंच का प्रभाव देखते नहीं अघाते वे लोग उनके नाटकों के 'थियेट्रिकल प्रोसेस' की उपेक्षा कर रहे होते हैं। याद रखना चाहिए कि प्रत्येक नाटककार अपना एक 'थियेट्रिकल प्रोसेस' लेकर ही अवतीर्ण होता है, जिसे समझे बिना उसके नाटक की समीक्षा हम नहीं कर सकते। यह 'थियेट्रिकल प्रोसेस' उसके अपने युग की ही देन होती है। यहाँ इस विषय पर अधिक चर्चा करना अपेक्षित नहीं, किन्तु इतना बता देना आवश्यक है कि जिसे वे पारसी रंगमंच कह रहे होते हैं वह प्रसाद के नाटकों का नाट्यदर्शक है जो रचना करने वाले कलाकार की मानसिकता में जी रहा है। दर्शक की उसी मानसिकता का इस्तेमाल करके पारसी रंगमंच का जन्म हुआ था और उसी दर्शक की मानसिकता को परिष्कृत करने में 'प्रसाद' अपने नाट्य का सम्पूर्ण विधान रच रहे थे। यदि नाट्य दर्शक की मानसिकता से भी अनुशासित होता है (जैसा कि होता है) तो हमें यह मानना होगा कि रंगमंच का उतना अंश प्रसाद को भी वहीं से मिला था जहाँ से पारसी रंगमंच को।

इस सब चर्चा के पीछे उद्देश्य महज इतना रहा है कि नाटक के आलोचक से यह अनुरोध किया जा सके कि वह नाटक की सही आलोचना करके हिन्दी नाटक को उसकी होती दुर्दशा से बचाए जिससे एक ओर नाटक के प्रति दर्शक की मानसिकता स्वस्थ हो तो दूसरी ओर सही अर्थों में हिन्दी का अपना नाटक सामने आए। सिद्धान्तों की पूँछ पकड़कर तैरने वाले नाट्यलोचकों से भी निवेदन करना है कि वे कमरे से बाहर निकलकर 'नाट्य' तक आएँ जहाँ उन्हें नाटक को सही अर्थों में समझने का

अवसर मिले और वे जान सकें कि नाटक का अपना विधान क्या है, तथा हिन्दी नाटक, नाटक के अपने विधान को कितना विकसित अथवा संकुचित कर सका है। इतना ही नहीं, उन्हें यह भी पता लगेगा कि कथा-साहित्य और नाटक में कहाँ और कैसा अन्तर है, जिससे आज उभरती हुई हिन्दी नाटक की विडम्बना का अन्त हो सके।

नाटक-समीक्षा और 'नाटक' की पहचान का प्रश्न

रंगमंच की किसी जीवित परम्परा का अभाव हिन्दी में बहुत समय तक उत्तम नाटकों की रचना न हो पाने के मूल में था, तो नाटक की संज्ञा को सार्थक करने वाली कृतियों की कमी समृद्ध नाटक-समीक्षा के अभाव का मुख्य कारण थी। पिछले दशक में हिन्दी नाटक ने नया मोड़ लिया। उसके कुछ समय बाद ही हिन्दी-नाटक-समीक्षा में भी नया स्फुरण दिखलाई देने लगा। हिन्दी में नाटक-समीक्षा अब धीरे-धीरे अपनी पहिचान कायम करने लगी है और इस पहिचान को लक्ष्य किया जा रहा है। पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी की नाटक-समीक्षा के इतिहास का अलग से आकलन करते हुए उसके नये मोड़ को चिह्नित करने के कुछ प्रयास सामने आए हैं। हिन्दी-नाटक-समीक्षा में विधा-वैशिष्ट्य की जो चेतना इधर विकसित हुई है, उसके प्रति नाटक-समीक्षा के पाठकों का ध्यान निश्चित रूप से आकर्षित हुआ है; फिर भी यह कहना कठिन है कि नाटक-समीक्षा का नाट्यधर्मिता की पकड़ से जो सम्बन्ध है, वह पूरी तरह समझ लिया गया है या नाटक-समीक्षा के स्वधर्म की व्याख्या का कार्य पूरा हो चुका है। यों यह कार्य इतना सरल और मतभेदमुक्त नहीं हो सकता कि सीधे-सीधे उसका स्वरूप-निर्देश कर दिया जा सके; फिर भी उससे सम्बन्धित समस्याओं की मोटे तौर पर चर्चा करके उसके वैशिष्ट्य को ध्यान में लाया जा सकता है।

हिन्दी में लम्बे समय तक नाटक-समीक्षा का स्वरूप-साहित्य की अन्य विधाओं की समीक्षा से बहुत भिन्न नहीं रहा है। कोई भिन्नता दिखलाई देती है तो अधिक-से-अधिक यह कि नाटकों की अभिनेयता का विचार भी उसके अन्य गुणों की चर्चा के साथ जोड़कर कर लिया गया है, मानो अभिनेयता समीक्ष्य कृति की सम्पूर्ण संरचना के भीतर रमी हुई न होकर परिशिष्ट की तरह जुड़ी हुई हो; मानो अभिनेयता नाटक का व्यावर्तक लक्षण न होकर कोई अतिरिक्त गुण हो, मानो यह उसका अपरिहार्य धर्म न होकर कोई ऊपरी चीज हो। हिन्दी नाटक और उसकी समीक्षा में रंगमंच की चेतना पनपने पर इसकी एक प्रतिक्रिया यह हुई है कि नाटक कभी-कभी निरे रंगमंच की दृष्टि से देखा जाने लगा है और नाटक की रंगधर्मिता पर बल देने के लिए यहाँ तक कह दिया गया कि वास्तविक नाटक-समीक्षा वस्तुतः मंचित कृति की समीक्षा है। दूसरी ओर नाटक की साहित्यिकता के आग्रह से यह कहा गया कि रंगमंच का माध्यम शब्द

है और "**रंगमंच मूलतः एक श्रव्य माध्यम है।**" यह देखकर आश्चर्य होता है कि यह कथन किसी और का नहीं, **मोहन राकेश** का है, जिन्होंने हिन्दी नाटक को सफलतापूर्वक रंगमंच से सम्पृक्त कर उसकी **दृश्यकाव्यात्मकता** की प्रतिष्ठा की।

दोनों ओर के अतिवादी आग्रहों से नाटक-समीक्षक कठिनाई में पड़ जाता है। उसे यह तय कर लेना होता है कि उसके कार्य की सार्थकता किस बात में है—उसे नाटक का मूल्यांकन एक **दृश्य व्यापार के आयोजन** की दृष्टि से करना है अथवा एक **शब्द की सृष्टि** की दृष्टि से? नाटक को वह लेखक की कृति मानकर चले या निदेशक की? उसे नाटक के **आलेख** की समीक्षा करनी है या उसके **प्रदर्शन** की? दोनों पक्षों की समन्वित समीक्षा की बात भी कही जा सकती है, लेकिन उस स्थिति में समन्वय की धारणा बहुत स्पष्ट होनी चाहिए। कई बार यह भी होता है कि समन्वय की बात मानते हुए भी आग्रह एक ही पक्ष की ओर बना रहता है। मोहन राकेश ने अपनी नाटक-रचना—**छतरियाँ** जैसे अपवाद को छोड़कर—रंगमंच को ध्यान में रखकर की और अपने नाटकों के मंचन में रुचि लेकर निदेशक की अन्तर्दृष्टि का लाभ अपने नाटकों में संशोधन-परिवर्तन के लिए लिया। अपने व्यवहार में उन्होंने निदेशक-लेखक के सहकार का उदाहरण उपस्थित किया, फिर भी नाटक को आलेख में ही देखने का उनका आग्रह बहुत प्रबल था और उसे वे लेखक की रचना ही मानते थे, वह निदेशक की रचना भी है, यह मानने के लिए वे भीतर से तैयार नहीं थे। इसके विपरीत रूसी नाटककार एलैक्सी आर्बुज़ोफ़ ने नाटक के लिए 'शब्द' को नितान्त आवश्यक नहीं माना है। उनका कहना है कि "बिना नाटककार की पाण्डुलिपि के भी एक अच्छा नाटकीय प्रस्तुतीकरण सम्भव है। यहाँ तक कि बिना शब्दों के भी।"

यदि कोई दृश्य व्यापार शब्द-रहित होते हुए भी 'नाटक' कहला सकता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि नाटक-समीक्षा साहित्य-समीक्षा का अंग नहीं है। नाटक में शब्द न होने पर भी उसका आलेख हो सकता है, लेकिन यदि बिना आलेख के भी नाटक का अस्तित्व हो सकता है तो नाटक लेखकीय कृति ही नहीं रह जाता, वह मात्र एक दृश्य व्यापार रह जाता है जो केवल निदेशक की देन होता है। मोहन राकेश ने इस प्रकार के आलेख-रहित और शब्दहीन दृश्य-व्यापार को नाटक नहीं माना है। उसके अस्तित्व को उन्होंने स्वीकार अवश्य किया है, लेकिन साथ ही यह बात स्पष्ट कह दी है कि "स्वतन्त्र मूक अभिनय रंगमंच का एक अलग प्रकार है।" आलेख पर आधारित नाटक में थोड़ी देर के लिए संवादों को स्थगित कर देने और मूक अभिनय के विषय में राकेश का विचार है कि "नाटकीय रंगमंच के अन्तर्गत मूक अभिनय भी लम्बी निःशब्दता की तरह **बीच की एक कड़ी** है। शब्दों से उद्भूत बिम्ब में से एक **बिम्ब** यह भी हो सकता है, होता है।"

आलेख रहित नाटक, जो निदेशक की अपनी ही रचना होता है, नाटक की कोटि में आ सकता है—यह विचार सहज स्वीकार्य नहीं है। रंगमंच पर प्रदर्शित प्रत्येक व्यापार नाटक है, इस मान्यता के पीछे नाटक को रंगमंच से अभिन्न मान लेने की

मनोवृत्ति है। नाटक का माध्यम रंगमंच है, लेकिन प्रत्येक रंगमंचीय प्रदर्शन नाटक नहीं होता; ठीक वैसे ही जैसे कि साहित्य का माध्यम शब्द है, लेकिन प्रत्येक शब्द-प्रयोग साहित्यिक कृति नहीं होता है। नाटक को रंगमंचीय प्रदर्शन से अभिन्न मान लेना दूसरे छोर पर वैसी ही भूल है जैसी भूल एक छोर पर हिन्दी में कुछ पहले तक संवाद-रचना मात्र को नाटक मानकर की जाती रही है। रंगमंच को श्रव्य माध्यम कहने से मोहन राकेश के अनजाने में इस धारणा को बल मिला है। नाटक को रंगमंच से अभिन्न मान लेना जितना गलत होगा उससे कम गलत रंगमंच को श्रव्य माध्यम मानना नहीं होगा। मोहन राकेश ने जब रंगमंच को श्रव्य माध्यम मानने की बात कही उस समय उन्होंने रंगमंच को नाटक से अभिन्न मान लिया।

आर्बुज़ोफ़ और मोहन राकेश में अपने-अपने ढंग से नाटक की जो पहिचान बतलाई है, उसमें विरोध इसीलिए दिखलाई देता है कि आर्बुज़ोफ़ ने **नाटक को रंगमंच के रूप में** देखा है जबकि राकेश ने **रंगमंच को नाटक के रूप में**। नाटक और रंगमंच की पहिचान को एक-दूसरे में विलीन कर देने से एक ऐसी समस्या उत्पन्न हो गई है, जिससे निपटे बिना नाटक-समीक्षक अपना कार्य ठीक से नहीं कर सकता।

नाटक और रंगमंच की **पारस्परिकता** दोनों की उपकारी है, लेकिन दोनों को एक मान लेने से नाटक-समीक्षक का मूल्य-निर्णय संकट में पड़ जाता है। नाटक में मात्र शब्द को महत्त्व देने से[1] उसकी समीक्षा, साहित्य-समीक्षा ही रह जाती है तो उसे केवल दृश्य व्यापार मान लेने से उसकी समीक्षा के अन्तर्गत नाटक के साहित्यिक उत्कर्ष के आकलन के लिए स्थान नहीं रह जाता है। दूसरी स्थिति में तो नाटक लेखक की चीज ही नहीं रहती, निदेशक को उसके साथ मनमानी करने का अधिकार मिल जाता है। यह बात आर्बुज़ोफ़ जैसे उदारमना नाटककार को भी अखरी है[2] जो यह मानकर चलते हैं कि नाटक "**मूलतः एक दृश्य माध्यम है।**"

इस संकट से नाटक-समीक्षक को आज भी भारत की प्राचीन मनीषा उबार सकती है। भरत के **नाट्यशास्त्र** में नाटक की पहिचान में शब्द और दृश्य का द्वन्द्व कहीं दिखलाई नहीं देता। इसके विपरीत भरत दोनों को एकप्राण मानकर चले हैं। यदि कालिदास की गवाही ली जाए तो एक लेखक के नाते वे 'नाटक' को '**काव्य**' मानकर चलते हैं। **विक्रमोर्वशीयम्** और **मालविकाग्निमित्रम्** में उन्होंने नाटककार के लिए '**कवि**' संज्ञा का प्रयोग किया है। '**नाटक**' को उन्होंने '**प्रबन्ध**' भी कहा है। **विक्रमोर्वशीयम्** में सूत्रधार की उक्ति में यह प्रयोग मिलता है : "परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा।" **मालविकाग्निमित्रम्** में पारिपार्श्वक ने नाटक को 'प्रबन्ध' और नाटककार को 'कवि' कहा है : "प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां **प्रबन्धा**-नातिक्रम्य वर्तमान **कवे**: कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।" **मालविकाग्निमित्रम्** की

---

१. मोहन राकेश जब रंगमंच को श्रव्य माध्यम कहते हैं तो उनका आशय नाटक को श्रव्य मानने से ही है।

२. द्रष्टव्य—मोहन राकेश का लेख 'रंगमंच और शब्द' (साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि, पृ० ९०(

प्रस्तावना में नाटक की प्रतिष्ठा को लेखक की प्रतिष्ठा पर निर्भर मानने की मनोवृत्ति का जो परिचय मिलता है, उससे यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत में नाटक कवि की चीज़ माना जाता था। संस्कृत में नाटक काव्य की श्रेणी में रखा जाता था—इसका एक प्रमाण यह उक्ति भी है : "काव्येषु नाटकं रम्यम्"। लेकिन, इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि संस्कृत में नाटक का विचार केवल साहित्यिक दृष्टि से किया जाता था। नाटक के अपने माध्यम के वैशिष्ट्य की चेतना के अनेक प्रमाण संस्कृत की नाटक-चर्चा में मिलते हैं। कालिदास ने नाटक को एक ओर **'काव्य'** कहा है तो दूसरी ओर **'प्रयोग-विज्ञान'** के रूप में भी उसका उल्लेख किया है :

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेत :॥"[1]

वास्तविकता यह है कि संस्कृत में नाटक की दृश्यात्मकता उसके कृतित्व में अविच्छेद्य रूप से रमी हुई मानी गई है; उसे लेखक और निदेशक के रूप में बाँटकर नहीं देखा गया है। दृश्यात्मकता सहित नाटक की पूरी कल्पना कवि की मानी गई है और सूत्रधार का काम केवल इतना माना गया है कि वह नाटककार की कल्पना को रंगस्थल पर इन्द्रियगोचर परिणति दे। इसका अर्थ यह हुआ कि संस्कृत नाटककार का दायित्व केवल शब्द-सृष्टि करना नहीं था—उसे नाटक की प्रस्तुति की समस्याओं और सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर लिखना होता था। इस प्रकार नाटक-लेखन की ही नहीं, प्रदर्शन-कल्पना-सम्बन्धी योग्यता की अपेक्षा भी नाटककार से की जाती थी। उसकी यह योग्यता आलेख में उपलब्ध होती थी और इसी में नाटक के दृश्य-काव्यत्व की सार्थकता निहित थी।

आज भी यही स्थिति काम्य है। नाटककार और निदेशक के सहकार को सहज सिद्ध मानकर नहीं चला जा सकता। आलेखकार और निदेशक में सहकार की जितनी सम्भावना रहती है उतनी ही मतभेद की भी। इसलिए लेखन और प्रस्तुति-कल्पना में जितना एकात्म्य होगा, नाटक उतना ही अधिक सार्थक होगा। इस एकात्म्य की खोज केवल आलेख में की जा सकती है, इसलिए समीक्ष्य आलेख ही हो सकता है। प्रस्तुति-समीक्षा का अपना महत्त्व इस बात में है कि उसमें लेखक की कल्पना कितने अंशों में मूर्त हो सकी है अथवा प्रस्तुति ने किस प्रकार और कितनी मात्रा में आलेख में चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। निदेशक की अपनी प्रतिभा की अनदेखी करना नाटक-समीक्षा के हित में नहीं होगा—इसलिए आलेख-समीक्षक को भी प्रस्तुति-समीक्षा में रुचि लेकर लिखित कृति के भीतर ही प्रदर्शन के सम्भावित प्रभावों को ध्यान में रखते हुए नाटक के सर्जनात्मक वैशिष्ट्य का विचार करना चाहिए। किसी स्थिति में नाटक की समीक्षा आलेख को ध्यान में रखे बिना नहीं की जा सकती—यहाँ तक कि प्रस्तुति-समीक्षा के लिए भी आलेख से परिचित होना चाहिए क्योंकि निदेशक मनमानी छूट लेकर

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १/२

नाटककार की मूल कल्पना को नष्ट कर सकता है। ऐसी स्थिति में समीक्षक को यह पता तो होना ही चाहिए कि वह जिस चीज पर प्रहार कर रहा है, उसके लिए दोषी कौन है—नाटककार या निदेशक ? प्रस्तुति-समीक्षा का यह अनिवार्य अंग होना चाहिए कि निदेशक ने लेखक की अपनी कल्पना का उत्कर्ष कितना घटाया या बढ़ाया है।

नाटक मूलतः **आलेख** होता है। इसलिए नाटक-समीक्षा वस्तुतः आलेख-समीक्षा होती है। प्रस्तुति-समीक्षा नाटक-समीक्षा नहीं, **रंग-कर्म** की समीक्षा है, जबकि नाटक-समीक्षा में कृति की **रंगमंचीय सम्भावनाओं** का आकलन होता है, वास्तविक रंग व्यवहार का नहीं। किसी नाटक की प्रस्तुति एक अस्थायी घटना है जबकि आलेख की रंगमंचीय सम्भावनाएँ अपेक्षाकृत स्थायी रहती हैं। एक ही नाटक की भिन्न-भिन्न प्रस्तुतियों का उत्कर्षापकर्ष भिन्न-भिन्न होता है। इसलिए प्रस्तुति-समीक्षाओं में परस्पर भिन्नता का वस्तुगत आधार होता है। इसके विपरीत नाटक के आलेख की समीक्षाओं में समीक्षकों की भिन्न दृष्टियों के कारण अन्तर हो सकता है, कृति की वस्तुगत भिन्नता का प्रश्न वहाँ नहीं उठता। इसलिए प्रस्तुति-समीक्षा को आलेख-समीक्षा से भिन्न करते हुए आलेख-समीक्षा को ही नाटक-समीक्षा मानना होगा। नाट्य कृति की अपनी एक पहिचान होती है, जिसे उसकी समीक्षा लक्ष्य करती है। प्रस्तुति-भेद से नाटक की अपनी एक पहिचान बनी नहीं रहती। इसी कारण नाटक-समीक्षा प्रस्तुति-समीक्षा नहीं हो सकती।

दृश्य काव्य कहलाते हुए भी नाटक इस बात में सिनेमा से भिन्न है कि जहाँ किसी सिनेमा-चित्र का अपना एक दृश्य रूप होता है, वहाँ नाटक अपनी कोई एक निश्चित दृश्यात्मक पहिचान नहीं बना सकता। इसलिए सिनेमा जहाँ दृश्यात्मक रूप में अंकित होता है, वहाँ नाटक मूलतः एक लिखित कृति के रूप में। सिनेमा में प्रस्तुति कैमरे की यान्त्रिक भूमिका के फलस्वरूप सल्यूलाइड पर स्थायी रूप से अंकित हो जाती है। एक बार चित्रांकित हो जाने पर सिनेमा की प्रस्तुति अन्त तक उसी रूप में बनी रहती है। उसमें कुछ अंश जोड़े-घटाये जा सकते हैं, उपयोग से ध्वन्यंकन खण्डित हो सकता है और पर्दे पर चित्र-प्रक्षेप में धुँधलापन आ सकता है, लेकिन यह अन्तर भौतिक कलेवर का अन्तर है, प्रस्तुति की विभिन्नता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। सिनेमा की प्रस्तुति में उसकी सम्पूर्ण कलात्मक सम्भावनाएँ एक ही बार में पूरी हो जाती हैं—सैल्यूलाइड में एक बार में जितना कुछ अंकित हो जाता है, वही बार-बार यान्त्रिक रूप से ज्यों का त्यों दोहराया जाता है। इस प्रकार सिनेमा की कला-वस्तु प्रस्तुति में ही निहित रहती है। इसके विपरीत नाट्यकृति की सम्पूर्ण कलात्मक सम्भावनाएँ किसी एक प्रस्तुति में प्रकट नहीं होतीं—आगामी प्रस्तुति के लिए कुछ-न-कुछ बचा रह जाता है। कारण यह है कि प्रस्तुति की सर्जनात्मकता आलेख में निहित कलात्मक क्षमता को रूपों में प्रकाशित करती है। इसलिए एक कलाकृति के रूप में नाटक को **प्रतिफलित कलात्मकता** के सम्बन्ध से नहीं देखा जा सकता, केवल **आलेखगत सम्भावनाओं में** ही उसकी कला का आकलन किया जा सकता है।

नाटक-समीक्षक का कार्य नाटककार की कल्पना को रंग-शिल्प से सम्पृक्त रूप में पकड़ना है। इसलिए नाटक की विषय-वस्तु का विवेचन भी उसकी नाटकीय भंगिमा से अलग करके नहीं किया जा सकता। नाटक-समीक्षा में नाटक के कथानक और चरित्रों की चर्चा का अपना कोई महत्व नहीं होता। कई बार नाटक में कथानक और चरित्र होते ही नहीं हैं—हमीदुल्ला के कई नाटक इसका प्रमाण हैं। जिन नाटकों में कथानक और चरित्र होते हैं उनमें भी सर्जनात्मक उत्कर्ष घटनाक्रम और पात्रों के व्यक्तित्व के भीतर कलाकार की संदृष्टि (विज़न) तथा अन्तर्दृष्टि की गतिमयता में व्यक्त होता है। नाटक-समीक्षक को इसके लिए पाबन्द नहीं किया जा सकता कि वह नाटक के सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पक्ष का विचार ही न करे और नाटक को केवल प्रदर्शन-विषयक सूक्ष्मताओं की दृष्टि से देखे। नाटक में कथानक और चरित्र हों या नहीं, उसमें नाटककार की मानव-विषयक अभिरुचि अवश्य व्यक्त होती है। एब्सर्ड या ऊलजलूल नाटकों की संवाद-शृंखला में भी, तर्कसम्मत निरन्तरता का अभाव होने के बावजूद मानवीय अर्थवत्ता रहती है। उसे चीन्हना और उसका मूल्य आँकना नाटक-समीक्षक के कार्य का अंग है, किन्तु उसे यह सब नाटक की गति को निरन्तर सामने रखकर करना होगा। अन्य साहित्य-विधाओं से नाटक की भिन्नता इसी में निहित नहीं है कि नाटक एक प्रदर्शनात्मक कला है, बल्कि उसका वैशिष्ट्य इस बात में भी है कि नाटक अपने-आपमें एक **मूर्त गति है।** नाटक के कलात्मक उत्कर्ष को पहिचानने के लिए नाटकीय गति के विधान का विश्लेषण समीक्षक का प्राथमिक कार्य है। मानवीय अर्थवत्ता भी जब संदृष्टि की सम्पन्नता से नाटक को उत्कर्ष प्रदान करती है, तब वह एक **नाटकीय भंगिमा** में व्यक्त होती है। यदि किसी तथाकथित नाटक में संदृष्टि और अन्तर्दृष्टि का प्रकाशन नाटकीय भंगिमा से वंचित रह जाता है तो वह कृति नाटक-समीक्षक से प्रशंसा प्राप्त करने-योग्य नहीं रह जाती। 'प्रसाद' के अन्य नाटकों की तुलना में **ध्रुवस्वामिनी** उत्कृष्ट कृति मानी जाती है इसका कारण यही नहीं है, कि दृश्यों और पात्रों की संख्या सीमित होने के कारण उसकी प्रस्तुति अधिक आसान है, बल्कि इसका एक कारण यह भी है कि 'प्रसाद' की भावुकता और विचारशीलता इस कृति की नाटकीय गति से एकाकार हो गई। यह गति घटनाक्रम के सन्तुलित विधान और अपेक्षाकृत क्षिप्र विकास का परिणाम है। जिन नाटकों में कथानक और चरित्र नहीं होते उनमें नाटक की गति, संवादों के घात-प्रतिघात और स्थितियों के वेगपूर्ण विकास में व्यक्त होती है। इसलिए नाटक में संवादों का विचार भी 'वार्तालाप' की दृष्टि से नहीं 'रंग भाषण' की दृष्टि से ही प्रासंगिक होता है। नाटक-समीक्षक कृति के किसी भी पक्ष की चर्चा करे, नाटक की गति को उसे निरन्तर ध्यान में रखकर विचार करना होता है। तभी उसकी समीक्षा में नाटक के कलात्मक वैशिष्ट्य का भान निरन्तर झलकता रह सकता है।

नाटक-समीक्षक अपना दायित्व तभी निभा सकता है जब वह अपने मन में यह बात अच्छी तरह बिठा ले कि नाटक केवल साहित्यिक कृति नहीं होता—वह एक

संकर कला है जो शब्द और रंगमंच की एकप्राणता में सार्थक होती है। इसलिए नाटक-समीक्षक को रंगमंच के व्यावहारिक पक्ष—ध्वनि-प्रसार, प्रकाश-व्यवस्था, वस्त्रालंकरण और रूप-सज्जा, दृश्य-बन्ध तथा अभिनय के प्रकारों—का थोड़ा-बहुत ज्ञान अवश्य होना चाहिए। इसके अभाव में वह किसी नाट्यकृति की प्रस्तुति-सम्भावनाओं का अनुमान ठीक तरह नहीं लगा सकता। रंग-शिल्प-सम्बन्धी जानकारी से वंचित समीक्षा किसी नाट्यकृति की कलात्मक क्षमता का मूल्य सही तरह आँक सके—यह अकल्पनीय है।

इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि बहुत कम समीक्षक इन अपेक्षाओं को पूरी कर सकते हैं। कुछ समय पहले तक की नाटक-समीक्षा से यह बात प्रमाणित होती है, लेकिन इधर रंगमंच के विकास के साथ हिन्दी नाटक ने जो नया मोड़ लिया है, उससे नाटक-समीक्षा के क्षेत्र में भी नया उत्साह दिखलाई देने लगा है। दिशा का सही ज्ञान और अपने कार्य में रुचि होने पर भी अपेक्षाएँ पूरी नहीं हो सकतीं—यह मानने का कोई कारण दिखलाई नहीं देता। आज नहीं तो कल नाटक का मूल्यांकन नाटक की दृष्टि से अवश्य होगा—इस बात के लक्षण अब स्पष्ट दिखलाई दे रहे हैं।

नाट्यालोचन के नये प्रतिमान

नाट्यकला को एक अनुभूति की अभिव्यक्ति के रूप में जब भी सोचा है तो कहीं पढ़ी हुई एक गीतिकाव्य की ये पंक्तियाँ याद आती हैं—"अन्तहीन समय, जगत् में अपने प्रचण्ड घोष के साथ निरन्तर बीतता जाता है।" तो लगा है कि किन्हीं विशिष्ट नाटकों में समय का ऐसा ही निरन्तर, प्रचण्ड और उद्वेलनमय प्रवाह रहता है जो कि व्यक्ति जीवन के एक पूर्ण अनुभव को गहराई और सूक्ष्मता से अभिव्यक्त करने के लिए कलाकार को बाह्य करता आया है। अनुभव की गहराई जो प्रवाहित अन्तहीन समय से उपजी है और अभिव्यक्ति जो उस अनुभूति की रचनात्मक प्रस्तुति है, आन्तरिक संगीतात्मक स्वर-संगति में समस्त कलाओं से श्रेष्ठ बन जाती है। संगीतात्मक स्वर-संगति का संचरण और श्रेष्ठ संयोजन प्रत्यावर्तन में बन्दी समय का ऐसा प्रस्तुतीकरण बन जाता है जो कि चिन्तन को उद्बुद्ध कर एक सूक्ष्म संवेदना को उभारता है, जिसमें मानवीय अनुभूतियाँ उदात्त या सार्वजनीन हो जाती हैं। समय का प्रवाह अपनी आन्तरिक उद्वेलनमयी जटिलता के कारण नाट्य साहित्य में बन्दी बनता है तथा भावक को गतिमान और सजीव चित्र देता है, जो जीवन तो है, पर केवल जीवन नहीं—जीवन का कलात्मक स्वरूप, गतिमान, जीवन्त, परिवर्तनशील अर्थात् सर्जनात्मक और इसी कारण संघर्षपूर्ण।

नाट्य कहने से एक रचनात्मक कला की अनुभूति होती है। वह अनुभूति भावक को सूक्ष्म रूप से प्रभावित कर उद्वेलित करती है और प्रत्यावर्तन में भावक की प्रतिक्रिया में अपनी अन्तिम सार्थकता प्राप्त करती है। गति उसका प्राण है केवल बाह्य मार-पीट के अर्थ में नहीं, वरन् नाटक की संरचनात्मकता में अन्तर्निहित गति के अर्थ में, जिसे पढ़ते हुए या देखते हुए केवल पढ़ा और देखा ही न जाय प्रत्येक मस्तिष्क के कैनवेस पर उसे निर्मित होते अनुभव किया जा सके। यह नाटकीय गति संघर्ष के माध्यम से अनुभव होती है। नाटक में संघर्ष एक ऐसा तत्त्व है जिसके द्वारा अपने और कृति के अन्दर की एक नयी क्षमता पहचान में आती है। संघर्ष की स्थितियाँ व्यक्ति को सक्रिय करती हैं। इस सक्रियता में नाटकीय तत्त्व जहाँ नाटक को नाटकीय तनाव, कौतूहल, विस्मय तथा नाटकीयता की अर्थवत्ता से जोड़ते हैं वहीं निर्देशक, अभिनेता तथा प्रेक्षक को अन्तर्निहित अर्थ-बिम्बों की गहराई तक ले जाकर एक नये सर्जन की ओर अग्रसर करते हैं। नाटक में विस्तार की गुंजाइश लेखक को नहीं

मिलती है, इसलिए वह सम्पूर्ण नाटकीय आयोजन के मध्य अपने कल्पना बिम्बों को, अपने अनुभव की गहराई के साथ संयोजित कर चलता है। नाटकीय परिकल्पना में संघर्ष की परिव्याप्त स्थिति इन्हीं बिम्बों को प्रक्षेपण द्वारा भावक या रंगधर्मी के अर्थ बिम्बों में बदलती है, जिससे नाट्य अपनी श्रेष्ठता से अधिक रचनाशीलता की सम्भावनाएँ देता है।

आज सुबद्ध-प्रबुद्ध नाट्य लेखक, नाट्यचिन्तक और रंगधर्मी नाट्य को इसी रचनात्मक पक्ष पर आँकने, रंगमंचीय परिप्रेक्ष्य में उसकी रचनात्मक सार्थकता को पर्यवेक्षित करने के आग्रह को लेकर चल रहे हैं। यह आग्रह किसी नवीन को सतही तौर पर अंगीकार करने के लोभ से नहीं उपजा है, बल्कि भारतीय नाट्य को निरन्तर परिवर्तित आवेष्टन तथा रचना व्यवहारों के बीच रखकर कहीं अधिक सार्थक रंगदृष्टि के माध्यम से देखने की आवश्यकता से उपजा है। नाटक के कृतित्व पक्ष की बदलती मान्यताएँ भी बाध्य करती हैं कि उन्हें नाट्य-शास्त्रीय भावभूमि की अपेक्षा रंगमंच की कलात्मक, वैज्ञानिक भाव-भूमि पर आँका जाए। 'अन्धायुग', 'आषाढ़ का एक दिन' जैसे नाटकों में दुराग्रहपूर्वक 'रस' को सिद्ध किया भी जा सके, पर भुवनेश्वर, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विपिन अग्रवाल, राजकमल चौधरी आदि के नाटकों में ऐसा सम्भव नहीं है। परम्परित मूल्यों की चौखट में इन नाटकों की आलोचना-प्रत्यालोचना केवल अन्याय ही नहीं हास्यास्पद भी होगी।

यहाँ यह प्रश्न अप्रासंगिक नहीं होगा कि भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त की कसौटी पर आज के नाटकों को परखा जा सकता है या नहीं? अथवा क्या कारण है कि इधर के नाटकों में रस-सिद्धान्त पीछे छूटता गया है।

श्री शिवप्रसाद भट्टाचार्य ने एक-एक स्थल पर लिखा है कि काव्य की सर्जनात्मक अवस्था के गतप्राय होने का अनुभव करने के बाद काव्यशास्त्रज्ञों के सामने एक ही कर्तव्य शेष था कि वे काव्य के आस्वाद और आलोचना के एक ऐसे प्रशस्त पथ का निर्माण करें, जिससे पूर्ववर्ती महाकवियों की परम्परा सुरक्षित रह सके। फलस्वरूप काव्य-चिन्तन की दृष्टि क्रमशः कवि से हटकर सहृदय पर आ गयी और काव्यशास्त्र का मुख्य लक्ष्य हो गया समाज में अधिक से अधिक सुहृदयों का प्रशिक्षण। इस पर यदि शंका भी की जाय तो भी इस यथार्थ से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि रस वस्तुपरक चिन्तन को महत्त्व देता है भावपरक या व्यक्तिपरक चिन्तन को नहीं। रस-सिद्धान्त न तो नाटक को लेखक के व्यक्तित्व से सम्बद्ध करके देखता है, और न उस पर सामाजिक, युगीन अथवा अन्य किसी प्रकार की प्रतिक्रिया पर विचार करता है। किसी भी रचना को स्वतन्त्र तथा अपने आपमें पूर्ण इकाई मानकर उस पर विचार करना उसकी रचनात्मक सम्भावनाओं के व्यापक आयामों को सीमित कर देना है। आज का नाटक आदर्शों और सामंजस्य का नाटक न होकर द्वन्द्व और असामंजस्य का नाटक है। यथार्थ के विरोधाभासों का नाटक है। इस दशक तक आते-आते सम्बन्धों का विघटन, अनास्था, शिथिल प्रवंचनामय संस्कार, निरर्थक रूढ़ियों, असमर्थता

और अनुपयोगिता से पीड़ित व्यक्ति की विघटनशील मनोवृत्ति को नाटककार अपनी अन्तरदृष्टि से और अनुभव की गहराई (लेखक की ईमानदारी) नाटकीय परिकल्पना में सँजो रहा है। जयशंकर प्रसाद के बाद लक्ष्मीनारायण मिश्र ने कथ्य में जिस यथार्थ को ग्रहण करने का आग्रह उत्साह दिखाया था वह नाटकीय रचना के स्तर पर मात्र आरोपित और सतही होकर रह गया था। तीन-चार दशकों से हिन्दी नाटक युगानुभवों के परिप्रेक्ष्य में जिस दिशा की खोज में निरन्तर द्वन्द्वरत है, वह छठें दशक में आते-आते एक नये नाटक को जन्म देती है, जिसे इधर पश्चिम की 'एब्सर्ड' रंगमंच परम्परा से जोड़ने न जोड़ने का विवाद चल रहा है। इन नाटकों में घटनाओं, संयोगों और कथाओं का आधार नहीं है कि बल्कि जीवन-प्रक्रिया के बीच संवेदना के सूक्ष्म तन्तुओं पर आघात करते एक सम्पूर्ण अनुभव के किन्हीं क्षणों का चित्रण है। इसलिए यह कथामय नाटक न होकर अनुभव से स्वत: गुजरने का नाटक हो जाता है।

नयेपन की इस पहचान के दबाव में ही क्रमशः यह माना जाने लगा है कि नाटक 'गति' और 'विसदृश्यता' में अपनी रचनात्मक सार्थकता को प्राप्त करता है। गति नाटक के मूल में परिव्याप्त रहकर नाटक में संघर्ष की परिकल्पना को जन्म देती है। नेमिचन्द्र जैन[1] ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यदि नाटक को सही अर्थों में नाटक होना है तो उसकी गति संघर्ष में होनी है और पर्यवसान भी इसी में।

संघर्ष, वस्तुत: अरस्तू के 'कार्य' का विश्लेषित रूप है। अरस्तू ने कथानक को त्रासदी की आत्मा मानते हुए लिखा है—"त्रासदी अनुकृति है—व्यक्ति की नहीं, कार्य की तथा जीवन की क्योंकि जीवन कार्य व्यापार का ही नाम है और उसका प्रयोजन भी एक प्रकार का व्यापार ही है।" यह कार्य-व्यापार घटनाओं और परिस्थितियों के कारण ही सम्भव है। चरित्र तो कार्य-व्यापार के साथ गौण रूप में आ जाता है। यद्यपि अरस्तू का यह सिद्धान्त भी विवेचन-सिद्धान्त की तरह विवाद का विषय है, क्योंकि एक बार चरित्र-चित्रण को त्रासदी के लिए अनावश्यक मानते हुए भी वह उसे द्वितीय स्थान पर रखता है, फिर भी कार्य-व्यापार की अनुकृति सिद्धान्त के पीछे एक व्यापक दृष्टिकोण है। वह नाटक में गति की आवश्यकता को प्रतिस्थापित करना चाहता था, इसी कारण उसने 'कार्य' तथा 'जीवन' के अनुकरण की बात कही। जीवन स्वत: संघर्षों और विरोधों का प्रतीक है, और कार्य संघर्षरत व्यक्ति की चेष्टा है, गति अरस्तू है। नाटकीय ने परिकल्पना में इसी गति को अन्तर्निहित मानकर बाह्य गत्यात्मकता के लिए घटनाओं और परिस्थितियों के गुम्फन की बात कही। बाद में चलकर पाश्चात्य आलोचकों ने चरित्र-चित्रण पर बल देना आरम्भ किया और इस दृष्टि से अरस्तू की मान्यताओं की सीमा पर आरोप भी किये। नाटक में जब पात्र को महत्त्व दिया जाने लगा तो नाटकीय गति किन्हीं विरोधों, प्रतिक्रियाओं में मानी गयी। 'संघर्ष' शब्द इन्हीं परस्परविरोधी स्थितियों, भावों, समूहों, शक्तियों,

---

१. रंगदर्शन—नेमिचन्द्र जैन

मान्यताओं या इच्छाओं के ऊहापोह, टकराहट, द्वन्द्व की अर्थवत्ता को लेकर चला, और इसी संघर्ष में नाटकीय गति का होना स्वीकार किया गया। हीगेल[१] ने संघर्ष को केवल परस्पर विरोधों में न मानकर दो परस्पर समतुल्यों में भी माना। ब्रुनेत्यार[२] ने संघर्ष को मनोवैज्ञानिक आधार देते हुए उसे नायक की 'दृढ़ ईहा' जो समस्त सम्भावित स्थितियों से संघर्ष करने को तत्पर है, में माना। विलियम आःचर[३] ने संघर्ष को इच्छाओं का संघर्ष नहीं माना। उसने नाटक को 'सक्रान्तियों की कला' माना। आःचर जोन्स[४] ने व्यक्ति का चेतन-अचेतन रूप से भाग्य, परिस्थिति और व्यक्ति के 'अप अगेंस्ट' होना माना। लासन[५] नाटकीय संघर्ष को सामाजिक संघर्ष मानता है और ऐसा कोई भी संघर्ष जो व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति या परिस्थिति के साथ सम्बन्ध को व्याख्यायित नहीं करता वह सामाजिक संघर्ष नहीं है अतः नाटकीय भी नहीं। शॉ[६] के अनुसार नाटक प्रकृति-चित्रण के लिए मात्र कैमरा नहीं है, वह व्यक्ति की इच्छा तथा उसकी परिस्थिति के संघर्ष के दृष्टान्त का प्रदर्शन है। मैथ्यूज ने नाटक की रुचि का मापदण्ड ऐसा संघर्ष माना जो किन्हीं इच्छाओं का संघर्ष प्रस्तुत करे। इसी तरह थाम्पसन, शापेनहावर और ग्रौस जैसे विद्वानों ने भी किसी न किसी रूप में, नाटकीय संघर्ष को किसी दृढ़ इच्छाशक्ति का संघर्ष माना, एक ऐसी दृढ़ इच्छा शक्ति का, जो नाटकीय एवं तनावपूर्ण स्थितियों का निर्माण करने में सक्षम हो। निकल, बाह्म और ए० सी० ब्रैडले जैसे विद्वान आलोचकों ने संघर्ष को दो आयामों—बाह्य संघर्ष तथा अन्तः संघर्ष—में विभक्त कर उसे मनोवैज्ञानिक सत्य से तो जोड़ा, पर इस तरह समग्र रूप में, नाटकीय परिकल्पना में संघर्ष की अन्तर्निहित स्थिति का सरलीकरण कर दिया। संघर्ष चाहे बाह्य हो, चाहे अन्तः, वह एक ही मूल से उचित है केवल बाह्य स्तर पर आंगिक चेष्टाओं द्वारा गोचर है अन्तः स्तर पर मानसिक चेष्टाओं द्वारा अनुभवजन्य। यह कहना[७] कि रंगमंच की दृष्टि से बाह्य संघर्ष प्राथमिक और अनिवार्य शर्त हैं, शंका उत्पन्न करता है। अनेक नाटक ऐसे भी मिलेंगे जो प्रत्यक्षतः किसी द्वन्द्व की योजना नहीं करते, फिर भी वे सफल नाटक हैं। चेखव का, 'चेरी या चन्ड', सिन्जे का 'राइडर्स टू सी', लॉरका का 'यरमा', बादल सरकार का 'बाकी इतिहास', मोहन राकेश का 'आधे अधूरे' और गिरीश कर्नाड का 'हयवदन' ऐसे ही नाटक हैं। इसी तरह 'एब्सर्ड रंगमंच' परम्परा में लिखे गये नाटक किसी प्रत्यक्ष संघर्ष को प्रस्तुत नहीं करते किन्तु फिर भी उनमें किसी तीखे संघर्ष की योजना है। ऐसा सूक्ष्म

---

१. देखिए, ए० सी० ब्रैडले की 'आक्सफर्ड लेक्चर्स ऑन पोइट्री'।
२. विलियम आःचर ने 'प्ले मेकिंग' में ब्रुनेत्यार के सिद्धान्त को रखा है।
३. प्ले मेकिंग—विलियम आःचर।
४. युअरपीअन थीअरिज ऑफ ड्रामा—बी० एच० कलार्क।
५. वही।
६. 'प्लेज प्लेजन्ट प्लेज अनप्लेजन्ट'—शॉ।
७. ए० सी० ब्रैडले, ए निकल, बाह्य प्रभृति विद्वान् इसी मत के समर्थक हैं कि बाह्य संघर्ष नाटकीय क्षणों को महत्त्वपूर्ण बनाने में प्राथमिक रूप से आवश्यक है।

और गहन संघर्ष जो युग-जीवन और जीवन-दर्शन की निरन्तर संघर्षरत सत्य प्रक्रिया से उदित है।

लगभग इब्सन के नाटकों से ही अन्त: तथा बाह्य अथवा अन्त: बनाम बाध्य संघर्ष की परिकल्पना अपना अर्थ खोने लगती है। सच तो यह है कि ये आयाम नाट्य-विधा में व्याप्त संघर्ष की स्थिति को, उसकी संरचनात्मक सम्भावनाओं को सीमित कर देते हैं। देखा जाय तो हर रचना कलात्मक स्तर पर व्यक्ति और परिवेश के संघर्ष को भोगती किन्तु नाटक अपनी आन्तरिक रचना में संघर्ष को परिव्याप्त कर चलने की वजह से दूसरी कलाओं की तुलना में विशिष्ट अर्थ नहीं दे पाती। 'वेटिंग फार गोदो : द चेयर या 'सिक्स कैरेक्टर्स इन सर्च आफ इन आथर' जैसे किसी भी आधुनिक नाटक में संघर्ष किसी पात्र की दृढ़ इच्छा शक्ति का नहीं है बल्कि व्यक्ति की विडम्बना का है—व्यक्ति की उस स्थिति का जो आज भौतिकता की होड़ में धर्म से विलग जाने पर उत्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त, यह एक ओर तो ब्रह्माण्ड में उसकी तुच्छ स्थिति के विरुद्ध है तो, दूसरी ओर जीवन की अव्यवस्था से उत्पन्न किसी व्यापक मानसिक बीमारी के फलत: संघर्ष वस्तुगत रूप की अपेक्षा पूर्ण आन्तरिक संरचना में अन्तर्निहित हो जाता है। भुवनेश्वर या विपिन अग्रवाल के नाटकों में भी अन्त: बाह्य संघर्ष की कोई स्थिति नहीं, बल्कि, सम्भवत: संघर्ष के तनाव की जितनी गहरी अनुभूति ये नाटक दे पाते हैं उतनी वे नाटक नहीं जिनमें पात्रगत संघर्ष का सफल नियोजन मिलता है। इन नाटक में संघर्ष की व्यापक स्थितियाँ हैं। इनमें संघर्ष को हो रहे संघर्ष के स्तर पर प्रस्तुत न कर उसे अनुभूत सत्य के रूप में अनुभव कराने का प्रयास है। और इस कारण उनमें एक आन्तरिक तनाव है, व्यवस्था में अव्यवस्था है, जिसके माध्यम से संघर्ष को सर्जनात्मक स्तर पर अनुभूत किया जा सकता है।

अपने अधिक सत्य रूप में नाटक 'साहित्य' भी है और रंगमंच भी। दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित नहीं बल्कि एक दूसरे के पूरक और सहसम्बन्धी हैं। अपने नाट्य रूप में तब वह जीवन की वास्तविक अनुभूति देने का साहित्यिक माध्यम बन जाता है, जिसमें भावक उसके सर्जन से लेकर उसकी प्रस्तुति की प्रतिक्रिया तक के व्यापार में सचेतन रूप से भाग लेता है। इस तरह आज के सन्दर्भ में नाटकीय संघर्ष को इन आयामों में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) युग संवेदना—(और नाटककार), (२) आन्तरिक रचना, (३) रूप बन्ध, (४) प्रस्तुतीकरण—(रंगमंच)।

एक ऐसे संघर्ष की व्यापक अनुभूति इन स्तरों पर सम्प्रेषित होती है, जिसे रचनात्मक स्तर पर, रचना की प्रस्तुति के पूर्व ही, कलाकार की चेतना भोगती है रचना के स्तर पर उसकी रंग-इकाइयाँ या मुख्य तत्त्व भोगते हैं, रूपबन्ध के स्तर पर माध्यम भोगता है और प्रस्तुतीकरण के स्तर पर रंगमंच। इस प्रकार नाट्य अपने निर्माण और प्रस्तुति में सर्जनात्मकता की शर्त को पूरा कर प्रेक्षक के समक्ष एक चुनौती

रखता है। प्रेक्षक उस चुनौती को अपनी सामर्थ्य के अनुसार ग्रहण कर स्वयं एक नये सर्जन के संघर्ष को भोगता है। यह सर्जन सम्प्रेषित नाट्य बिम्बों के विश्लेषण विस्तार का होता है जो प्रेक्षक को क्रियाशील करके नाट्य सर्जनशील आयामों को पूर्ण करता है।

युग वह पृष्ठभूमि है जहाँ से नाटककार सामग्री जुटाता है, अपने मस्तिष्क में उसे सजाता-सँवारता है और अपने संघर्ष की सन्तुलित, व्यवस्थित एवं संश्लिष्ट अभिव्यक्ति के लिए तत्पर होता है। यद्यपि नाटककार की अन्तरदृष्टि अपने युग की सीमाओं का अतिक्रमण भी कर जाती है, किन्तु वह निश्चित रूप से उस युग-समाज को द्वन्द्वरत मूल्यों तथा समस्याओं के तनाव से उत्पन्न होती है। इस तरह युगानुभूति नाट्यकार की अनुभूति में परिवर्तित होती है और तब नाटककार अपनी अनुभूति नाट्य रूपान्तर करता है। अतः सर्जन के प्राथमिक स्तर पर युग और नाटक के बीच की कड़ी का संघर्ष महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जो अपने स्वरूप में नाटककार की क्रिया-प्रतिक्रिया की ओर संकेत करता है। यह संकेत युग की रचनात्मक आवश्यकता और नाटक की नींव का है। दूसरे स्तर पर नाटककार इस वैचारिक संघर्ष को रूपाकार देने के लिए रंग इकाइयों के प्रयोग की ओर उन्मुख होता है। 'वस्तु', 'पात्र', तथा 'नाटकीय संवेदना' इस सामग्री को रूपाकार में परिवर्तित करते हैं। यह 'वस्तु', मात्र एक कथा या उपाख्यान नहीं बल्कि क्रमानुगत नाटकीय रूपान्तर है, जिसमें गौण या मुख्य स्थितियों, चरम बिन्दुओं, समाधानों और रहस्योद्घाटनों का पूर्वापर सम्बन्ध में विस्तृत तथा क्रमानुगत गुम्फन रहता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि नाटकीय वस्तु चयन की गयी ऐसी स्थितियों, घटनाओं या उलझाव के क्षणों का संयोजन है जो कारण कार्य सम्बन्ध से जुड़ी रहकर किसी सत्य, नाटकीय तनाव, कौतूहल तथा नाटकीय आइरनी का उद्घाटन तथा निर्माण करने में समर्थ है। वस्तु का संयोजन इस प्रकार होना चाहिए कि सम्बद्ध पात्रों की अनुभूति के स्तर घटनाओं और स्थितियों के माध्यम से इस प्रकार खुलते जाएँ पात्रों के साथ दर्शक भी उनके सच्चे स्वरूप की उपलब्धि करें। इसी तरह पात्र निर्माण का विकास, सम्बन्धों को नाटकीय अर्थ में अभिव्यक्त करता है। पात्र क्या करते हैं, अपने अनुभव के आधार पर कैसा आचरण करते हैं, प्रस्तुत स्थितियों में कैसा व्यवहार करते हैं, और इस तरह उनकी क्रियाशीलता विभिन्न सन्दर्भों में कितनी विश्वसनीयता और नाटकीय तनाव दे पाती है, ये सारी बातें पात्र निर्माण के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण हो जाती हैं। परस्पर विरोध और प्रतिक्रिया में पात्र नाटकीय अर्थों को उद्घाटित करते हैं तथा नाटकीय कार्य व्यापार को निर्देशित करते हैं। वस्तु निर्माण के सन्दर्भ में घटनाओं का प्रतिबद्ध क्रमानुगत संयोजन महत्त्वपूर्ण है क्योंकि पात्रों की गत्यात्मकता का बोध घटनाओं के माध्यम से होता है, और पात्र निर्माण के सन्दर्भ में पात्रों का आचरण, उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया महत्त्वपूर्ण है क्योंकि नाटक का कार्य व्यापार इसी से शासित होता है। नाटकीय उलझन या संघर्ष पात्रों को लेकर ही हो सकता है और कोई भी 'कार्य' पात्रों का ही

होगा। अतः घटनाओं द्वारा प्रस्तुत स्थितियों में संघर्षरत पात्र ही नाटकीय कार्य को किसी आयाम तक ले जाते हैं।

वस्तु-निर्माण और पात्र निर्माण नाटक को बहुत कुछ देते हैं, फिर भी किसी नाटक की सिद्धि इन इकाइयों की मात्र निजी सार्थकता से नहीं होती, वरन् नाटक में अभिव्यक्त नाटककार के जीवनानुभवों, विचारों और व्यक्तित्व की क्रिया-समष्टि से व्यंजित होने वाली सांकेतिकता से होती है। एक श्रेष्ठ नाटक से सभी अभिनेता, निर्देशक पाठक और प्रेक्षक—रचनात्मक तत्त्व की माँग करते हैं, जो सामूहिक रूप से उन्हें सन्तुष्ट कर सके, किसी आकर्षण से बाँध सके। यह आकर्षण बाह्य रूप में पात्रों के संघर्ष में निहित है पर परोक्ष रूप में उन नाट्य बिम्बों में है जो एक ओर पात्रों के आपसी टकराव में निहित हैं, दूसरी ओर पात्रों की वैयक्तिकता में निहित नाटककार के सूक्ष्म प्रक्षेपन में हैं। इस तरह नाटक के सूक्ष्म अर्थों के उद्घाटन के साथ ही नाटककार के कल्पना-बिम्ब भी सम्प्रेषित हो पाते हैं। वस्तुतः नाटकीय सम्वेदना में एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक की गति के मध्य ऐसे अर्थों का संचरण है जो काल्पनिक प्रभावों को सजीवता देने में समर्थ हैं। संवेदना के स्तर पर नाटक हमें गम्भीर और सूक्ष्म संरचनात्मक बिम्बों से जोड़ता है पर इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि वस्तु और पात्र नाटक के गौण तत्त्व हैं। सत्य तो यह है कि यदि वस्तु निर्माण और पात्र निर्माण में किसी प्रकार शिथिलता या अविश्वसनीयता हो तो पूर्ण नाटक असफल सा साधारण बन जाता है। ये तत्त्व अपनी महत्ता में स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा करते हैं।

रूप-बन्ध के स्तर पर माध्यम से इस पूर्ण आन्तरिक संयोजन को अभिव्यक्ति के स्तर पर सापेक्ष मूल्यों से जोड़ता है। इसमें भाषा तथा शैली मुख्य है। सर्जनशीलता में शब्द विशिष्ट संश्लेषण को लेकर चलते हैं। स्तयान के शब्दों में 'नाटक शब्दों की कला नहीं, शब्दों के व्यवहार की कला है।' एक नाटकीय सम्भाषण वक्ता, श्रोता तथा अनुपस्थित पात्र पर प्रकाश डालता है, वस्तु को विकास देता है, व्यंगात्मक रूप में कार्य करते हुए प्रेक्षक को, रंगमंच पर उद्घाटित होते अर्थ से एक भिन्न अर्थ सम्प्रेषित करता है। अधिक व्यापक अर्थ में शैली से तात्पर्य रचना व्यवहारों का है। नाटककार वैचारिक सामग्री के आधार पर जब नाट्य की परिकल्पना करता है तो अपने बिम्ब को कहीं अधिक सजीवता देने के लिए किन्हीं उपयुक्त रचना-व्यवहारों की भी खोज करता है। तभी शास्त्रीय या लोकनाट्य रूढ़ियों का, जैसे प्रस्तावना, नट-नटी का नृत्यमूलक क्रिया-व्यापार, सूत्रधार आदि, नवीनीकरण या सामंजस्य सम्भव हो पाता है। प्रस्तुतिकरण अथवा रंगमंच ही माध्यम के साथ वह कसौटी है जिस पर किसी नाटक की सर्जनशीलता को आँका जा सकता है। इब्राहिम अल्काजी नाटक को एक चरित्र की अनुभूति-यात्रा मानते हुए रंगमंच को वह स्थल मानते हैं जहाँ यह यात्रा की जाती है।[1] क्योंकि किसी भी नाटक की यात्रा मंच-

१. नटरंग, अंक-२१

प्रस्तुति के उपरान्त ही सार्थक-नाटकीय अर्थवत्ता से जुड़ पाती है। रंगमंच में अभिनेता और उसका अभिनय जितना महत्त्व रखते हैं, उतना ही दृश्यांकन भी। अभिनेता यदि अपने अभिनय की कुशलता से नाटकीय पात्र को जीवन्तता देता है तो नाटक के आन्तरिक बिम्ब को स्थूल अभिव्यंजना दृश्यांकन में मिलती है। पर्दा उठने पर प्रेक्षक के मन में सर्जनात्मक दृश्यांकन एक चुभन पैदा करता है तथा प्राथमिक स्तर पर नाटक की संवेदना एवं कलात्मकता के सम्प्रेषण के संकेत देता है। प्रकाश तथा संगीत दृश्यबन्ध में रिक्त स्थलों की पूर्ति करते हुए सम्प्रेषित नाटकीय अर्थों को ग्रहण कराने में सहायक होते हैं। इसी तरह वेष-भूषा के रंग, उनकी बनावट तथा बुनावट आदि से पात्रों के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति में तो सहायता होती ही है, और यदि वे नाटक की मूल चेतना से मेल खाते हों तो उनका प्रभाव अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। नाटक देखने जाना भी एक कला है, क्योंकि नाटक देखने नहीं जाता है जो यथार्थ की कलात्मक प्रस्तुति की ओर आकर्षित होता है। प्रेक्षक नाटक में भाग लेते हुए भी किन्ही अर्थों में उससे तटस्थ रहता है। इसी तटस्थता में वह नाट्य-मूल्यों को ग्रहण और विश्लेषित करता है। प्रत्यावर्तन में इन्हीं बिम्बों को वह नये रचनात्मक बिम्बों से जोड़ता है। तब एक नया नाटक जन्म लेता है जो प्रेक्षक का निजी है।

किसी भी युग के किसी भी नाटक की आलोचना—उसकी नाटकीय सार्थकता और महत्ता—नाटकीय रचनात्मक सार्थकता के सन्दर्भ में की जाने पर वह कहीं अधिक रचनागत आयामों से जुड़ सकेगी। एक नाटक किसी भी विषय-शैली के साथ कितना नाटकीय है यह इस बात से अधिक महत्त्व रखता है कि वह कितना श्रेष्ठ है। किन्हीं दूसरे नाटकों के सन्दर्भ में नाट्य को उसकी आन्तरिक रचना के संघर्ष से जोड़ना अधिक सार्थक होगा क्योंकि इसी अर्थवत्ता से जुड़ा नाटक कहीं सही अर्थों में नाटकीय 'भावना' या नाटकीय तनाव तथा 'कलागत रचनाशीलता' से सम्बद्ध हो पाता है।

नाट्य-समीक्षा : नये क्षितिज की खोज

साहित्य के माध्यम से मनुष्य ने अपने अस्तित्व और जीवन-मूल्यों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया है। इसलिए इसे जातिगत जीवन-मूल्यों का दर्पण स्वीकार किया जाता है। साहित्य के अन्तर्गत जो जीवन-मूल्य सुरक्षित रखे जाते हैं, वह अमूल्य कोष सत्पात्र तक ही पहुँचे, इसलिए उसमें बिम्ब, प्रतीक, लक्षणा, व्यंजना, रस, अलंकार आदि ऐसे गम्भीर प्रयोग और गुत्थियाँ रख दी गयी हैं कि वह सामान्य लोगों के लिए आनन्दप्रद होकर भी अपनी आन्तरिक विशेषताएँ सत्पात्रों के समक्ष ही प्रकट करे। इसलिए साहित्य की तिजोरी खोलने के लिए आलोचना की चाबी तैयार की गई। आलोचना साहित्यगत जीवन-मूल्यों और कला-मूल्यों के अवगुण्ठन खोलती है और योग्य एवं सत्पात्र व्यक्ति को साहित्य के भीतर संचित कोष की झाँकी दिखलाती है। आलोचना के रूप में साहित्य के मूल्यों की व्याख्या की चाबी साहित्य के निर्माण के पश्चात् ही सम्भव है, थी। पहले तिजोरी बनी, फिर उसमें अनमोल रत्न-भण्डार भरे गये और तब आलोचना के मानदण्डों के रूप में उस तिजोरी को खोलने की चाबी तैयार की गयी। इसलिए सभी साहित्य-चिन्तक एकस्वर से साहित्य को जीवन की व्याख्या—और आलोचना को जीवन की व्याख्या की टीका—स्वीकार करते रहे हैं। 'नाट्य' को भी काव्य-रूप की मान्यता प्राप्त है। स्वाभाविक है कि इसकी चाबी, इसकी आलोचना के भी प्रतिमान तय किये गये होंगे। हर युग में, जब-जब युग-विशेष के जीवन-मूल्यों को नाटकों में सुरक्षित किया जाता रहा होगा—तदनुरूप आलोचना-शैली का निर्माण होता रहा होगा। नाट्य-रचना के क्षेत्र में अब एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आ चुका है, हालाँकि यह क्रान्तिकारी परिवर्तन अन्य साहित्य-रूपों की तुलना में काफी विलम्ब से हुई क्रान्ति माना जाता रहा है। नये नाटकों के आविर्भाव के साथ नयी नाट्य-समीक्षा की जरूरत महसूस की गयी। नये जीवन-मूल्यों, युग-सत्यों और कला-मूल्यों को अपनाकर लिखे जा रहे इन नये नाटकों की व्याख्या के लिए एक नयी नाट्य-समीक्षा शैली की माँग उचित थी। इस माँग को पूरी करने की कोशिशें की गयी हैं। नये नाटकों की एक नयी उपलब्धि यह रही है कि एक लम्बी अवधि के बाद इसे नये सिरे से मंच-सापेक्षता प्राप्त हुई। रंगमंच की दुनिया में नये नाटकों का आविर्भाव से अचानक इतनी चहल-पहल हो आयी कि नाट्य-समीक्षा इस आकर्षण से अछूती न बची। नये नाटकों के आविर्भाव के पूर्व के जो

नाट्य-मूल्य उपलब्ध हैं, उनमें केवल काव्य-पक्ष की प्रधानता रही, इसलिए नाट्य-समीक्षा भी तब काव्य-समीक्षा से आगे नहीं बढ़ पायी। नयी नाट्य-समीक्षा 'रंग-समीक्षा', 'प्रस्तुति समीक्षा', 'रंगालोचन' आदि-आदि शीर्षकों के साथ केवल नाटक के 'दृश्यत्व' से जुड़ी रही, केवल रंगाभियोजन तक सीमित। लेकिन यह आकर्षक सम्मोहन भी अधिक दिनों तक रहने वाला नहीं था। धीरे-धीरे एक सन्तुलन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। लेकिन वह सन्तुलन क्या हो ? कैसा हो ? कैसे हो ? कहाँ हो ? आदि कई गम्भीर सवाल पैदा हुए हैं और ऐसे मूल्य-मानों की तलाश अब शुरू हो चुकी है जो नये नाटकों को उसकी सम्पूर्णता में और सही सन्दर्भों में पहचान कायम कर सकें। नाट्य-समीक्षा के रूप में 'काव्य-समीक्षा' की रूढ़ परम्परा और 'रंग-समीक्षा' के रूप में एकांगी समीक्षा-शैली की एकांगिता, अपूर्णता अब गम्भीरता से अनुभव की जाने लगी है और इस जरूरत पर बल दिया जाने लगा है कि 'नाट्य-समीक्षा' के रूप में बस एक समीक्षा हो, जिसमें दृष्टियाँ दो काम कर रही हों—एक साथ एक आँख नाट्य के काव्यत्व पर और दूसरी उसके दृश्यत्व पर केन्द्रित हो। पर यह सब किस प्रकार सम्भव होगा—यह अभी भी विचारणीय विषय बना है। हमने इस स्थिति पर अपने तौर पर कुछ मानदण्ड स्थापित किये हैं जिन पर विचार के लिए हम समीक्षकों को आमन्त्रित करते हैं।

नाट्य दृश्य काव्य है। दृश्य काव्य अर्थात् ऐसा काव्य जिसमें दृश्यत्व की क्षमताएँ या सम्भावनाएँ निहित हों। इसलिए नाट्यालोचन के रूप में यहाँ आलोचना सामान्य साहित्यालोचन से थोड़ा इस अर्थ में पृथक् है कि सामान्य साहित्यालोचन के मानदण्डों की तुलना में केवल जीवन की व्याख्या की टीका नहीं होती, जीवन की मूर्त्त व्याख्या की टीका होती है। किसी भी नाट्य कृति में नाटक का कथ्य सम्प्रेषण-माध्यमों से संयुक्त होकर मंच पर अपने दृश्याभियोजन के अन्तर्गत जीवन की मूर्त्त व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसलिए नाट्यालोचन के लिए साहित्यालोचन के प्रचलित मूल्यमान एकदम उपयुक्त नहीं कहे जा सकते। इन्हें कुछ हद तक उपयुक्त माना जा सकता है, उस हद तक जहाँ तक वह नाटक के काव्य-पक्ष की आलोचना से सम्बद्ध होता है। जब नाट्य-समीक्षा नाटक के दृश्य आयामों से जुड़ती है तो नाटक का दृश्यत्व, नाट्य की मूर्त्तता, मूर्त्त अभिव्यक्ति और रंगाभियोजन विवेच्य होता है। इस स्थिति में साहित्यालोचन के वे मूल्य-मान उपादेय नहीं हो सकते जो श्रव्य काव्य के मूल्य-मानों से सम्बद्ध हैं। यहाँ नाटक तब केवल श्रव्य (मंचीय आयोजन के सन्दर्भ में) नहीं रह जाता—उसके दृश्य आयाम भी उसमें संयुक्त होते हैं। इसलिए यहाँ आलोचना अपनी मूल्यांकन-प्रक्रिया में तब सीधे रंगमंच से जुड़ी होती है जहाँ दृश्यत्व के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया जा रहा नाटक का काव्यरूप परीक्ष्य होता है। रंगमंच एक ऐसा सेतु है जो नाटककार और दर्शक की कल्पना को जोड़ता है। इसलिए नाट्य-समीक्षा स्वतः यहाँ नाट्यकृति, रंगमंच और दर्शक से सम्बद्ध हो जाती है।

नाटक काव्यों में श्रेष्ठ इसलिए माना गया है कि उसके कथ्य में दृश्यत्व की

क्षमताएँ होती हैं; जो कथ्य होता है वही दृश्य भी होता है और यह विशेषता साहित्य की किसी भी अन्य विधा में नहीं है। यद्यपि काव्य रूप में नाटक की श्रेष्ठता के और भी बहुत सारे आधार हैं पर अभी हम केवल इसी की बात करते हैं कि नाटक के कथ्य में दृश्य होकर मूर्त्त अभिव्यक्ति बनने की आन्तरिक क्षमता होती है, जो नाटक का नाटकत्व है और जिस गुण के अभाव में कोई नाटक नाटक हो ही नहीं सकता। नाट्य-समीक्षा की दृष्टि में यह तथ्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होना चाहिए, यानी नाट्य-कृति की उस आन्तरिक क्षमता की पड़ताल होनी चाहिए और यह तय किया जाना चाहिए कि कृति में नाटकत्व सिद्ध हो पाया है या नहीं, इसके कथ्य में दृश्यत्व की सम्भावनाएँ सुरक्षित हैं या नहीं—दूसरे शब्दों में, पहली परीक्षा तो यह होनी चाहिए कि 'इस बात का निश्चय किया जाय' कि समीक्ष्य कृति नाटक है भी या नहीं। कथ्य के दृश्यत्व की यह क्षमता इतनी महत्त्वपूर्ण वस्तु है कि जिन अन्य काव्य-विधाओं में इस दृश्यात्मक अभिव्यक्ति का जरा भी स्पर्श दिया गया है वे अपनी विधा की एक श्रेष्ठ कृति सिद्ध हुई हैं। यहीं एक दूसरी विचारणीय बात यह है कि नाट्य-समीक्षा की वर्तमान शैली में नाट्य समीक्षकों के दो रूप प्रचलित मिलते हैं, एक ओर तो कृति-समीक्षा के रूप में नाट्य-कृति के काव्य-पक्ष की परीक्षा की जाती है और चलते-चलाते नाटक की रंग-सम्भावनाओं पर भी थोड़ा विचार कर लिया जाता है। दूसरी ओर रंग-समीक्षा या प्रस्तुति-समीक्षा प्रचलित है जिसमें किसी नाटक की मंचीय प्रस्तुति की उसके दृश्यत्व के सन्दर्भ में चर्चा मुख्य होती है और सूतक छुड़ाने के लिए नाटक के काव्यत्व की भी बात कर ली जाती है जिसमें मुख्य होता है नाटक की कथावस्तु का उल्लेख (ध्यातव्य है, कथ्य का नहीं)। ये दो प्रकार की समीक्षाएँ नाटक के काव्यपक्ष और दृश्यपक्ष को लेकर आगे बढ़ी हैं। 'दृश्य काव्य' के रूप में नाटक की प्रतिष्ठा किये जाने के पीछे कहीं भी यह अवधारणा जुड़ी नहीं दीखती है कि नाटक का काव्यत्व अलग है और दृश्यत्व अलग। इसलिए इस विभाजित आस्था के साथ की गयी विभाजित नाट्य-समीक्षा स्वतः असंगत सिद्ध हो जाती है। वस्तुतः नाटक के काव्यत्व में भी दृश्यत्व और दृश्यत्व में भी काव्यत्व समान रूप से मौजूद होता है और कुछ-एक विशेष नाट्य रूपों की बात छोड़ दी जाय, जिनकी हम आगे चर्चा करेंगे, तो इसे एक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। नाटक जब मूर्त्त होकर दृश्यात्मक अभिव्यक्ति पाता है तो ऐसा नहीं होता कि उसका काव्यत्व आलेख में ही रह जाता है; या फिर जब हम आलेख देख रहे होते हैं तो इसका मतलब यह नहीं हो जाता कि उसका दृश्यत्व मंच पर ही छूट गया हो। अर्थात् न तो अपनी मंचीय प्रस्तुति में कोई नाट्य-कृति केवल दृश्य और न अपने आलेख के रूप में केवल काव्य ही होती है। एक मंचीय दृश्याभिव्यक्ति के रूप में वह अपने काव्यगत मूल्यों को भी साथ ही साथ दृश्यत्व प्रदान करती है तो दूसरी ओर उसके आलेख में उसकी समस्त दृश्य सम्भावनाएँ भी मौजूद रहती हैं (और अगर ऐसा नहीं होता तो एक ही नाटक की विभिन्न व्याख्या, विभिन्न निर्देशकों के द्वारा किस प्रकार सम्भव होती?)

यह नाट्य-समीक्षा का दायित्व है कि वह दृश्यों से काव्य-मूल्यों और आलेख से दृश्य सम्भावनाओं का अन्वेषण प्रस्तुत करे।

सामान्य रूप से आलोचना के द्वारा रचना की आन्तरिक क्षमताओं की खोज की जाती है, उसकी सीमाओं और उपलब्धियों का रेखांकन किया जाता है, कृति की विशेषताओं का निरूपण और न्यूनताओं का निदर्शन प्रस्तुत किया जाता है; जीवन-मूल्य, साहित्यमूल्य, कलामूल्यों एवं अन्य सन्दर्भों में कृति की उपयोगिता की पड़ताल की जाती है और इन आधारों पर उसका वर्गीकरण, परम्परा में उसका स्थान निरूपित किया जाता है। यह आलोचना के सामान्य कार्य हैं। नाट्य-समीक्षा के अन्तर्गत आलोचना का दायित्व कुछ और बढ़ जाता है। नाट्यालोचन के अन्तर्गत 'रचना की आन्तरिक क्षमता के अन्वेषण' से दो प्रकार की रचनाओं का तात्पर्य लिया जाना चाहिए, एक स्तर पर नाटककार द्वारा प्रस्तुत किये गये आलेख से और दूसरे स्तर पर निर्देशक द्वारा प्रस्तुत की गयी उस कृति की व्याख्या से। नाटककार युग-सत्यों का अपने धरातल पर साक्षात्कार करता है और उसे अपने कथ्य के रूप में अपनी नाट्यानुभूति के द्वारा ढालता है। निर्देशक कृतियों के बीच से ऐसी कृति का चुनाव करता है जिसकी व्याख्या कुछ इतर सम्भावनाओं से कर पाने में अपने को समर्थ अनुभव करता है। निर्देशक नाटक को परखकर यह तय करता है कि नाटक की मूल संवेदना, नाटक का मूल कथ्य क्या है जिसे उसे दृश्याभिव्यक्ति देनी है, या जिसकी मंचीय व्याख्या उसे प्रस्तुत करनी है। अलग-अलग निर्देशकों की दृष्टि में कथ्य अलग हो सकते हैं—इसीलिए एक ही नाटक की विभिन्न दृश्याभिव्यक्ति के क्रम में उस नाटक की अलग-अलग व्याख्याएँ सम्भव होती हैं। हाल के कुछ नये नाटक इसके उदाहरण हैं, उड़िया नाटक सूर्यास्तक, हिन्दी नाटक व्यक्तिगत, रसगन्धर्व, बकरी, सिंहासन खाली है, तीसरा हाथी, सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक—आदि। इसके विपरीत कुछ नाटकों की दृश्य सम्भावनाएँ इतनी क्षीण और सीमित होती हैं कि एक निश्चित और निर्धारित व्याख्या के अतिरिक्त उसकी और कोई भी सम्भावना जगायी नहीं जा सकती। नयापन लाने के लिए कभी-कभार इनका प्रयोग कर लिया जाता हो, दूसरी बात है; सामान्य तौर पर इनके प्रदर्शन बड़े विरल होते हैं। कुछ अन्य नाटकों में दृश्य की कोई व्याख्या ही सम्भव नहीं होती—वे दृश्य-भर होती हैं और उनमें दृश्यत्व लाने के लिए भी पर्याप्त अतिरिक्त सहायता की आवश्यकता होती है। ऐसे अधिकांश नाटक आलमारियों में सजे रह जाते हैं, मंच पर जाने का अवसर उन्हें नहीं मिलता। निर्देशकों और दर्शकों की ओर से ये सर्वथा उपेक्षित कृतियाँ होती हैं, इसका मूल कारण होता है कथ्य की दृश्य व्याख्या का अभाव और कथ्य के धरातल पर भी यदा-कदा कथ्यहीनता। पिछले तीन-चार वर्षों की वर्ष-भर में प्रकाशित और मंचित नाट्य-कृतियों का सर्वेक्षण करने का अवसर मिलता रहा है, इसलिए मेरे पास इस तथ्य के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि वर्ष-भर की प्रकाशित ३०-४० नाट्य-कृतियों में से मुश्किल से १० नाट्य-कृतियों का ही दृश्याभियोजन होता है जिसमें निर्देशक के

चुनाव को इतर कारणों से प्रभावित किये जाने की स्थितियाँ भी शामिल हैं। इनमें से दो-तीन नाट्य-कृतियाँ ऐसी होती हैं जिनका एक-दो से अधिक मंचाभियोजन होता है और जिनकी हर प्रस्तुति में कुछ नयी व्याख्या की गयी होती है। शेष सारे नाटक सर्वेक्षण-लेखों और नाटक-कोश की सामग्री-भर बनकर रह जाते हैं। इस वर्ग के बहुत सारे नाटकों का मंचन किया जा सकता है लेकिन उन नाटकों की व्याख्या की सीमाओं के कारण नाट्य-संस्थाएँ, निर्देशक या अन्य कोई प्रयोक्ता उन्हें हाथ नहीं लगाता। स्पष्टत: नाटक के तीन वर्ग दीख पड़ते हैं: एक ओर वे साधारण नाटक हैं जिनका दृश्यत्व गुणहीनता के कारण प्रयोग नहीं होता; दूसरे वे हैं जिनका कभी-कभार एकाध बार मंचन हो जाता है, निश्चित और सीमित व्याख्याधर्मिता और दृश्य सम्भावना के कारण; तीसरे वे हैं जिनकी दृश्याभिव्यक्ति बार-बार, कई-कई बार होती है, क्योंकि उनमें व्याख्या के लिए काफी व्यंजनाएँ मौजूद होती हैं। इसलिए नाट्य-समीक्षा करते हुए सबसे पहला काम समीक्षक का यह होना चाहिए कि वह दृश्य सम्भावनाओं की दृष्टि से किसी कृति का मूल्यांकन करे और इस प्रकार करे कि अधिकतम व्याख्याओं की सम्भावना वाली नाट्य-कृतियाँ श्रेष्ठ, सीमित और निश्चित दृश्य-व्याख्या की सम्भावना रखने वाली कृतियाँ मध्यम और अपनी व्याख्याहीनता या कथ्यहीनता के कारण कृतियाँ साधारण सिद्ध हों। निश्चय ही ऐसा करने के लिए आवश्यक होगा कि समीक्षक कृति के भीतर बैठे और कृति की सम्भावनाओं पर गम्भीरतापूर्वक दृष्टिपात करे। नाट्य-समीक्षक की पैठ जीवन में भी उतनी ही गहरी होनी चाहिए जितनी रचना में। नाट्य-समीक्षक अपनी यह यात्रा दो प्रकार से कर सकता है, एक तो इस तरह कि वह कृति के दृश्यत्व (जब वह किसी नाटक का मंचन देख रहा हो) से होकर उसके काव्यत्व तक पहुँचने की कोशिश करे या फिर किसी नाट्य-कृति के आलेख में मौजूद दृश्य सम्भावनाओं का अन्वेषण करे (काव्यत्व से दृश्यत्व की ओर की यात्रा)। प्रस्तुति-समीक्षा के अन्तर्गत वेश-भूषा ध्वनि-प्रकाश-संयोजन, मेकअप, अभिनय, रंगोपकरण, दृश्यबन्धादि का अनावश्यक रूप से उल्लेख कर उसे रंग-समीक्षा का रूप देने की कोशिश यहाँ कोई अर्थ रखती प्रतीत नहीं होती क्योंकि इससे कृति के काव्यत्व और दृश्यत्व की कोई व्याख्या या टीका सम्भव नहीं, और ऐसा जहाँ सम्भव हो वहीं चर्चा अपेक्षित होगी। जैसे इस सन्दर्भ में प्रस्तुति को आधार बनाकर नाट्य-समीक्षक इस सम्भावना पर विचार करे कि सम्पूर्ण रंगायोजन में किस प्रकार के संशोधन-परिवर्द्धन से नाटक के कथ्य को एक और नयी व्याख्या दी जा सकती है। जैसे, नाट्य-समीक्षक इस पर विचार करे कि नाटक के कथ्य की जो व्याख्या यहाँ मंच पर प्रस्तुत की जा रही है उसमें काव्यत्व को उचित अभिव्यक्ति मिल पा रही है या नहीं, या रंगायोजन के द्वारा व्याख्या की अभिव्यक्ति में कहीं कुछ बाधा तो नहीं पड़ रही है, या यह कि नाटक की दृश्य व्याख्या रंगाभियोजन की अमुक व्यवस्था से अधिक सटीक, उपयुक्त और स्पष्ट होती। यानी, यहाँ रंगाभियोजन के बाधक-साधक तत्वों का विश्लेषण वाञ्छित है न कि औपचारिकता के निर्वाह की—

यथा, 'प्रकाश-व्यवस्था ठीक थी, वेश-भूषा अनुकूल, माइक की व्यवस्था अच्छी नहीं थी।' आदि-आदि।

'दृश्य काव्य' के रूप में किसी नाट्य-कृति की समीक्षा करते हुए उसकी श्रेष्ठता सिद्ध किये जाने का जो आधार 'नाट्य-समीक्षा' में स्वीकृत किया जाना चाहिए वह एक धरातल पर उस नाट्य-कृति की दृश्य सम्भावनाओं, व्याख्या सम्भावनाओं पर आधारित होनी चाहिए और इस रूप में वह नाट्य-समीक्षा कृतियों के बीच का सापेक्षिक मूल्य इस आधार पर निर्धारित करेगा कि किस नाट्य-कृति में दृश्य-व्याख्या की कितनी सम्भावनाएँ सुरक्षित हैं। नाटक का उद्देश्य कथा कहना नहीं होता। यह काम कथा-साहित्य-रूपों का है। नाटक का काम है कथा और कथ्य को—घटना और सत्य को होते हुए—घटते हुए दिखलाना। इस 'दृश्यत्व' के माध्यम से नाटक के दृश्य-सत्य को कथ्य बनाकर नाट्यानुभूति के धरातल पर अभिव्यक्ति प्रदान करना। नाट्यानुभूति नाटक का प्राण-तत्त्व है—नाटक के आलेख का भी और नाटक की दृश्याभिव्यक्ति का भी। नये नाटक की नयी नाट्य-समीक्षा के सन्दर्भ में नाट्यानुभूति की भी नयी व्याख्या अपेक्षित है। इसलिए नाट्यानुभूति पर आगे चर्चा करने के पहले उसकी नयी व्याख्या को समझ लेना आवश्यक है। हमारी राय में नाटक का सत्य ही नाट्यानुभूति है। इस सत्य का साक्षात्कार पहले तो नाटककार करता है, फिर निर्देशक, फिर अभिनेता-अभिनेत्री और रंगमंचीय परिवेश में संप्रेक्षण-माध्यमों से यही सत्य दर्शकों/पाठकों तक संप्रेषित होता है। यह सत्य दर्शकों का भी सत्य होता है। नाटककार आम लोगों के रूप में दर्शक बनकर इस सत्य की अनुभूति करता है। इस प्रकार, दर्शक—नाटककार—निर्देशक—अभिनेता-चरित्र—दर्शक—और फिर नाटककार तक—यह सत्य चक्र पूरा होता है। इस चक्र द्वारा नाटककार दर्शक-पाठकों तक वही सत्य-संप्रेषित करता है जो वह उनसे पाता है। यही वह मूल अनुभूति है जो इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का केन्द्र बनी रहती है। इसलिए मैंने नाटक के सत्य को ही नाट्यानुभूति माना है, जो सबका सत्य होता है। अब इसकी नाटकीय व्याख्या आवश्यक है। मंच पर बोले जाने वाले दो-चार पात्रों के वार्तालाप का आयोजन नाट्य-रचना नहीं हो सकता क्योंकि इसमें वह नाट्यानुभूति नहीं होती जिसे दृश्यत्व में सार्थकता मिलती है। नाट्यानुभूति यहाँ वह होगी जिसे समस्त रंगायोजन के माध्यम से एक अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इसलिए यहाँ यह परीक्ष्य होना चाहिए कि समस्त रंगाभियोजन द्वारा नाटककार और निर्देशक द्वारा प्रस्तुत कौन-सा सत्य पाठकों-दर्शकों द्वारा गृहीत किया जा रहा है। यदि मंचीय दृश्याभियोजन (आलेख+अभिनय) किसी ऐसे सत्य के निरूपण में असफल है तो उस कृति को अभिनय एवं आलेख दोनों ही धरातल पर 'दृश्य काव्य' के रूप में स्वीकृति नहीं दी जानी चाहिए। यह अनाटक है, संवाद-शैली में प्रस्तुत कथा-साहित्य है, या कुछ और है—यह निर्णय यहाँ न भी किया जाय, पर यह तो निर्णीत है कि वह नाटक नहीं है। हर नाट्य-कृति अपनी रंगधर्मिता के कारण, मंचीय साक्ष्य होने और मंचीय

व्याख्या की अनिवार्य अपेक्षा के कारण—दोनों ही धरातलों पर अपने भोक्ता वर्गों (पाठकों-दर्शकों) से जुड़ी होती है—इसलिए किसी भी नाट्य-कृति को पहले उनकी अपेक्षाएँ पूरी करनी होती हैं। यह अनिवार्यता किसी भी अन्य काव्य-कृति से उतनी गम्भीरता के साथ नहीं जुड़ी है जितनी गम्भीरता से नाट्य-कृति के साथ जुड़ी है। इसलिए किसी भी नाट्य-रचना की नाट्यानुभूति को, अर्थात् उसके कथ्य-सत्य की दृश्याभिव्यक्ति को, नाट्य-समीक्षा के धरातल पर आस्वाद-भोक्ता वर्ग से, पाठक-दर्शक वर्ग से जोड़कर देखना अनिवार्य हो उठता है। इस धरातल पर समीक्षक का यह काम होता है कि वह इस तथ्य की पड़ताल करे कि समीक्ष्य नाट्य-कृति नाट्यानुभूति के धरातल पर, कथ्य-सत्य के धरातल पर, अपने भोक्ता वर्ग से जुड़ती है या नहीं? जुड़ती है तो किस रूप में? कहाँ? किस प्रकार? आदि। कथ्य के रूप में नाटक के सत्य का अन्वेषण और अनुभूति के धरातल पर उसकी पहचान और परख यहाँ समीक्षक का दूसरा महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। वह इस बात की परीक्षा करे कि इस समस्त नाट्यायोजन से जो सत्य गृहीत हो रहा है, वह क्या केवल नाटककार की निजी-व्यक्तिगत अनुभूति तो नहीं है (तब उसका धरातल कविता की अनुभूति का होगा, नाट्यानुभूति का नहीं); यह कि—गृहीत सत्य अनुभूति के धरातल पर दर्शक-पाठक से जुड़ता है या नहीं। इसलिए यहाँ नाट्यानुयोजन के प्रति दर्शकों की अपेक्षाओं को भी समझना आवश्यक हो उठता है। दर्शक किसी नाटक से कथा, घटना, परिस्थिति, सामाजिकता आदि की अपेक्षा नहीं रखता अपितु इन सबों के माध्यम से वह कुछ ऐसे व्यापक सत्यों की अपेक्षा रखता है जो अनुभूति के धरातल पर उसे छूते हों। नाटक में वह अपने को, अपनी जीवनानुभूतियों और अपने जीवन-सत्यों को प्रतिबिम्बित पाना चाहता है। वह किसी ऐसी एक या अनेक अनुभूतियों को पुनः उसी प्रक्रिया में भोगने को तत्पर होता है जो एक उसकी अनुभूति होकर भी समान रूप से सबकी अनुभूति हो। इसलिए नाट्यानुभूति में व्यापकता होना अनिवार्य है—अर्थात्, एक साथ नाटककार, प्रयोक्ता और दर्शक की अनुभूति होने की आन्तरिक क्षमता। किसी व्यक्ति विशेष की—चाहे वह नाटककार हो, प्रयोक्ता हो, या दर्शक—की अनुभूति नाट्यानुभूति नहीं हो सकती क्योंकि नाटक व्यक्ति-सत्य का नहीं, सामाजिक सत्य का होता है—नाटक सामूहिक कला है। विशेषानुभूति कविता, कहानी या उपन्यास की अनुभूति बन सकती है। नाटक का दर्शक-पाठक एक व्यक्ति (विशेष) नहीं होता—नाट्यानुभूति का भोक्ता एक समूह होता है, सारा समाज होता है। अनिवार्य हो उठता है कि नाट्यानुभूति एक व्यापक सत्य की हो; भले ही वह अस्थायी हो, पर व्यापक हो। दर्शक-पाठक वर्ग नाटक से जिस व्यापक सत्य की अनुभूति पा सकने की आशा रखता है उसे संप्रेषित करने के लिए वह नाटककार और प्रयोक्ता को काफी आजादी देता है। अस्वाभाविक से अस्वाभाविक, अतिमानवीय, अतिलौकिक, असाधारण दृश्य, घटना, चरित्र, कथा—सबको वह स्वीकार करने के लिए मानसिक रूप से तैयार रहता है। लेकिन वह अनुभूति, जो उसकी नहीं या वह अनुभूति जो दर्शक-पाठक को अजनबी लगे,

बड़े से बड़ा व्यक्ति-सत्य हो, दर्शक उसे कभी स्वीकार नहीं करेगा। वह सारी अविश्वसनीय स्थितियाँ, अस्वाभाविक आयोजन स्वीकार कर लेगा, किन्तु अजनबी अनुभूति—और अभुक्त सत्य को नहीं। जो चीज उसकी नहीं, उसके जीवन की नहीं, वह उस दर्शक के आकर्षण को कभी भी बाँध नहीं सकती। इसी बात को और ढंग से नाट्यशास्त्रीय विवेचन के सन्दर्भ में तर्क-बुद्धि का स्वेच्छापूर्ण स्थगन कहा गया है। पर यह स्थगन जिस उद्देश्य से निहित होता है उसकी हमने यहाँ अपने ढंग से व्याख्या की है। नयी नाट्य-समीक्षा के सन्दर्भ में किसी भी नाट्य समीक्षक को इन अनुभवों के साक्षात्कार से गुजरना ही पड़ेगा।

यहाँ हम एक स्पष्टीकरण की आवश्यकता समझते हैं। हमने नाट्यानुभूति के विश्लेषण के क्रम में अन्यत्र और भी नाटक के भोक्ता वर्ग के अन्तर्गत 'दर्शक' के साथ-साथ 'पाठक' की चर्चा की है। नाटक के भोक्ता के रूप में पाठक की स्वीकृति से इस मूल अवधारणा का खण्डन हो गया नहीं समझा जाना चाहिए कि नाटक 'दृश्य काव्य' है। 'दृश्य काव्य' की अवधारणा से नाटक का 'दृश्यत्व' और 'काव्यत्व' जुड़ा हुआ है, अलग-अलग नहीं—एक साथ। इसलिए इसके दर्शक और पाठक स्वीकार किये जाने चाहिए, नाटक के दृश्यत्व अंग के दर्शक और काव्यांग के पाठक। बल्कि दर्शक-पाठक के साथ-साथ 'श्रोता' वर्ग को भी इसमें सम्मिलित किया जा सकता है क्योंकि नाटक के आलेख के पाठक होते हैं, दृश्य के दर्शक तो दृश्यान्तर्गत बोले गये संवादों के 'श्रोता' भी। इसलिए नाटक का भोक्ता वर्ग अन्य काव्य-विधाओं की तुलना में व्यापक है। जहाँ कुछ के पाठक होते हैं, कुछ के श्रोता, वहाँ नाटक के दर्शक-पाठक-श्रोता सभी। दूसरा स्पष्टीकरण यह कि नाटक (आलेख+अभिनय) के काव्यत्व (आलेख) और दृश्यत्व (अभिनय) में अन्तर नहीं माना जाना चाहिए; क्योंकि, एक स्तर पर जो दर्शक होता है वही पाठक भी, या जो पाठक होता है वही दर्शक भी। नाटक के पढ़े जाने और देखे जाने में कोई मौलिक विरोध भी नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि दोनों ही स्थितियाँ चाक्षुष साक्षात्कार से जुड़ी हैं, वही आँखें जो आलेख पढ़ती हैं, नाटक भी देखती हैं या फिर जो नाटक में पढ़ा जाता है वही मंच पर देखा जाता है—यह तीसरा स्पष्टीकरण। चौथी बात यह कि नाटक लिखा जाता है (तो पढ़ा भी जायगा) और खेला जाता है (तो देखा भी जायगा) जिनके लिए—अर्थात् दर्शक-पाठक—नाटक सबसे पहले उन्हीं से जुड़ता है। पाँचवीं बात यह कि नाटक के पढ़े जाने की सार्थकता दो अन्य स्थितियों से भी जुड़ी है, पहली स्थिति तो वह है जहाँ किसी नाटक का निर्देशक प्रयोग के लिए नाटक का चुनाव करता है। यह चुनाव-प्रक्रिया नाटक के पढ़े जाने के बाद ही सम्भव होती है। दूसरी स्थिति नाटक के अभिनेता-अभिनेत्री के चरित्र से जुड़ी है, जहाँ वे आलेख के माध्यम से अपने-अपने चरित्र को, अपनी भूमिका, को आत्मसात् करते हैं। और अन्ततः नाटकों का पढ़ा जाना नाट्य समीक्षक के लिए अनिवार्य होता है क्योंकि हर ऐसे नाटक की समीक्षा, जिसे वह लिखाना चाहता है हमेशा मंचित ही नहीं होता रहता कि वह उसे देखे और

तब समीक्षा लिखे, खासकर तब तो और भी इसकी जरूरत नहीं महसूस की जाती—जब हम आलेख के भीतर उसकी दृश्य सम्भावनाओं को तलाश कर देख सकते हैं। इसलिए हमने एक बुनियादी बात कही है कि नाटक के पढ़ने और देखने में कोई मौलिक भेद नहीं समझा जाना चाहिए, इसीलिए पाठक और दर्शक में भी। नाटक का पढ़ा जाना यहाँ केवल प्रचलित अर्थ में 'पढ़ना' नहीं होता बल्कि यहाँ भी पढ़ने के द्वारा देखने का ही काम किया जाता है।

नये नाटकों की नाट्य-समीक्षा के लिए वांछित आलोचना-मूल्यों का प्रारूप निश्चित करने में अब तक हमने दो महत्त्वपूर्ण पक्षों की चर्चा की है—नाटक के दृश्यत्व पर और नाटक की नाट्यानुभूति के अन्वेषण पर। इस क्रम की तीसरी महत्त्वपूर्ण चर्चा है—नाटक के काव्यत्व का विश्लेषण। यहाँ चूंकि हमने दृश्यत्व, नाट्यानुभूति और काव्यत्व की अलग-अलग चर्चा की है, विषय को अधिक स्पष्ट और क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने के उद्देश्य से, इसलिए इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि दृश्यत्व, काव्यत्व और नाट्यानुभूति को नाटक के अलग-अलग तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया गया है। पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और मन इन तीनों का समाहार मानव-व्यक्तित्व है। लेकिन मनुष्य कहने से न तो हाथ-पैर का, न गन्ध-स्पर्श-चेतना का या न केवल मस्तिष्क का ही बोध होता है। इसके विपरीत एक ऐसे साकार मनुष्य की कल्पना की जाती है जो उन तीनों तत्त्वों के मिश्रण से निर्मित होता है। ठीक इसी प्रकार की बात नाट्य-रूप की रचना के साथ समझी जानी चाहिए। अर्थात् नाटक के रूप में दृश्यत्व, काव्यत्व और नाट्यानुभूति के भिन्न रूप की ही कल्पना की जानी चाहिए, जिसका कर्मेन्द्रिय (स्थूल आयामों से जुड़े होने के कारण और क्रिया-व्यापार से सम्बद्ध होने के कारण) है दृश्यत्व, जिसका ज्ञानेन्द्रिय (काव्यास्वाद का अभिज्ञान कराने वाले अंगों से सम्बद्ध होने के कारण) है काव्यत्व और जिसका मन (सत्य की मानसिक अनुभूति कराने की सूक्ष्म मानसिक प्रक्रिया से सम्बद्ध होने के कारण) है नाट्यानुभूति। इस प्रकार नाट्य-शरीर की कल्पना कर उसे साकार रूप दिया जा सकता है। अस्तु, हम अपने अगले विवेच्य सन्दर्भ के अन्तर्गत नाटक के काव्यत्व पर विचार करेंगे और नयी नाट्य-समीक्षा के लिए काव्यत्व के सन्दर्भ में नये मूल्य-मानों की स्थापना का प्रयास करेंगे।

सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर दिया जाय कि किसी भी नाट्यकृति का काव्यत्व उसके दृश्यत्व से पृथक् नहीं होता। किसी भी नाट्यकृति की विभिन्न रूपों, रंगाभि-योजनों द्वारा प्रस्तुत की गयी नवीन से नवीन दृश्य-व्याख्याओं में भी उस नाटक का काव्यत्व उसी भाँति सुरक्षित रहता है। यह काव्यत्व, स्थूल रूप से नाटक की संवाद-योजना और उसके शब्द-विधान में मौजूद रहने से लेकर सूक्ष्म धरातल पर उस नाट्यकृति के साधारणीकरण और रस-दिशा तक की परिणति में मौजूद देखा जा सकता है। नाट्यकृति की संवाद-योजना से लेकर साधारणीकरण तक की यात्रा का विश्लेषण काव्यत्व के सन्दर्भ में किया जा सकता है, क्योंकि काव्यास्वाद की सार्थक

परिणति रस-दशा और साधारणीकरण से जुड़ी है। हम विस्तार-भय से ससंकोच इस विश्लेषण में भीतर नहीं पैठ रहे हैं। अस्तु, वह किसी भी नाट्य रचना का काव्यत्व ही है जो कहीं गहरे कथ्य बनकर—अनुभूति के धरातल पर संवाद, चरित्र-विकास, क्रिया-व्यापार एवं रंगोपकरणादि संप्रेषण-माध्यमों के द्वारा—अपने भीतर से बाहर आता है। मंच पर जिस किसी नाटक की दृश्याभिव्यक्ति की जाती है वह वस्तुतः नाटक के काव्यत्व की ही मूर्त्त अभिव्यक्ति है। वह जो कल्पना और भावानुभूति की चीज होती है—मंचीय साक्ष्य से और मंच पर दृश्य बनकर—वही चाक्षुष साक्षात्कार का विषय भी। नाटक की नाट्यानुभूति (जो एक धरातल पर काव्यानुभूति भी है) जब तक नाटक के भीतर है, वह मात्र अनुभूति है, अनुभूति के धरातल पर तब वह विशुद्ध काव्य है, और जैसे ही उसमें दृश्यत्व का अभिनियोजन कर दिया जाता है, वही अनुभूति नाटक के रूप में पूर्ण होती है। इसलिए काव्य-नाटकों में, जिनकी चर्चा हम आगे पृथक् रूप से भी करेंगे, नाट्यानुभूति कविता के धरातल पर होती है और इस स्थिति में यह निर्णय करना वस्तुतः एक कठिन कार्य होता है कि कविता कहाँ से शुरू होती है और नाटक कहाँ से ! कहाँ दोनों मिलते हैं और कहाँ से अलग हो जाते हैं ! इन दोनों का पार्थक्य निर्देश केवल तभी सम्भव है जब अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के स्तर पर इन्हें विलगाया जाय—अर्थात्, विशुद्ध काव्यानुभूति अन्तर्मुखी और व्यक्ति-सत्य है, नाट्यानुभूति बाह्योन्मुख और सामूहिक-सत्य। यह किसी भी रचयिता की आन्तरिक संयोजन-क्षमता पर निर्भर है कि वह अपनी नाट्य-रचना में दृश्यत्व और काव्यत्व के बीच का सन्तुलन निभा पाता है या नहीं। उसकी नाट्य-रचना काव्यत्व-प्रधान होकर कविता बन जाती है या कहानी या उपन्यास या दृश्यत्व-प्रधान होकर बिना काव्यास्वाद दिये ही केवल एक दृश्य-भर बनकर चुक जाती है, एक ऐसा दृश्य बनकर, जो काव्यत्व के अभाव में केवल सचल-चित्र का ही अनुभव दे पाये। तय है कि सभी नाट्य-कृतियाँ पहले काव्य हैं (मेरा तात्पर्य यहाँ काव्यत्व-प्रधान पद्य-नाटक, गीति-नाट्य और गद्य में लिखे मंच-नाट्य से है। दृश्यत्व-प्रधान नाट्य-रूपों में कुछ ऐसे हैं जिनमें काव्यत्व उपेक्षित रह गया है या अप्रधान) और तभी दृश्यत्व की अपनी आन्तरिक क्षमताओं के कारण नाटक। नाटक का दृश्यत्व नाटक के काव्यत्व का वह हिस्सा है, उसके काव्यत्व की वह व्याख्या है जो मंचीय साक्ष्य से सबकी समान अनुभूति बनती है। मूलतः किसी नाटक का कथ्य ही दृश्याभिव्यक्ति पाता है। जिस कथ्य में दृश्य बनने की सम्भावनाएँ नहीं हों वह कविता, कहानी या उपन्यास या कुछ हो सकता है पर नाटक नहीं। रंगमंच पर दृश्य होकर यदि कोई नाटक कथ्य की व्यंजनाएँ नहीं उभार पाता तो समझा जाना चाहिए कि उस नाट्य-कृति का काव्यत्व असिद्ध रह गया है, या सम्पूर्ण रंगाभियोजन में ही कोई ऐसी गम्भीर विसंगति छुपी हुई है जो कथ्य की व्यंजना को रोकती है। सामान्यतया दूसरी स्थिति विरल होती है, पहली सम्भावना प्रमुख। यहीं नये नाट्य-समीक्षकों की महत्त्व-

पूर्ण भूमिका देखी जा सकती है, जब उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे इस अवरोध की स्थिति पर सम्भावनाओं का सार्थक अन्वेषण प्रस्तुत करें।

नये नाटकों के आविर्भाव के पूर्व जिस प्रकार के नाटक लिखे जाते रहे उन्हें हम दृश्यत्व की दृष्टि से पूर्वनिर्धारित क्रम में तीसरे क्रम की नाट्य-रचना ही मानेंगे क्योंकि उन नाटकों के भाग्य में रंगमंच लिखा ही नहीं था, कुछ इस कारण कि रंगमंच अविकसित था और कुछ इस कारण भी कि इन नाटकों में नाट्यानुभूति और दृश्यत्व के आयामों की सर्वथा उपेक्षा की गयी थी। प्रसाद और भारतेन्दु-जैसे कुछ-एक नाटककारों को बाद करने के बाद नये नाटकों की पृष्ठभूमि यही ठहरती है। इस अवस्था में नाट्य-समीक्षा जो हो सकती थी, वही वह बनी। नाट्य-समीक्षा तब इसी कारणवश कहानी और उपन्यास की समीक्षा के स्तर से आगे नहीं बढ़ पायी। नये नाटकों के आविर्भाव के पश्चात् स्थिति में जो बदलाव आया, उससे सर्वाधिक प्रभावित हुई 'नाट्य-समीक्षा' के रूप में प्रस्तुत की जा रही 'काव्य-समीक्षा'। यह काव्य-समीक्षा रूपिणी नाट्य-समीक्षा उस युग की जरूरत थी। अब नये युग में नयी नाट्य-समीक्षा की जरूरत है। इसलिए नाटक के काव्य-मूल्यों की पड़ताल भी अब नये सिरे से, नये मान-मूल्यों के आधार पर की जानी चाहिए। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद, भाषा-शैली, सन्देश और संकलन-त्रय की दृष्टि से नाटक के तत्त्वों को आधार बनाकर परम्परागत नाट्य-समीक्षा बनाम काव्य-समीक्षा शैली को स्वीकार करने की स्थिति अब नहीं रह गयी है। यह नहीं कि अब जो नाट्य-समीक्षा होगी उसमें चर्चित तत्त्व नाटक के तत्त्व नहीं माने जायेंगे; यह भी नहीं कि समीक्षा करते हुए इन बिन्दुओं को स्वीकार नहीं किया जायगा; बल्कि यह कि जिस दृष्टि से और जिस उद्देश्य से नाट्य समीक्षा तब की जा रही थी उसमें परिवर्तन जरूरी है। नयी नाट्य-समीक्षा में भी उक्त तत्त्वों की चर्चा होगी पर तब सन्दर्भ कुछ दूसरा होगा। यहाँ नाटक के तत्त्वों का विश्लेषण नाट्य-समीक्षा का साधक तत्त्व होगा स्वयं साध्य नहीं बन जायगा। नये नाटकों के सन्दर्भ में जब हम उसके काव्य के परीक्षण के आधारों का अन्वेषण प्रारम्भ करते हैं, तो इसके पूर्व कि नाट्य-समीक्षा के काव्यत्वपरक नये मानदण्डों की स्थापना की जाय, नाट्य-समीक्षा में काव्यत्व के परीक्षण के आधारों पर चर्चा ही प्राथमिक महत्त्व की बात होती है।

काव्य का व्यक्त आधार है शब्द, जिसे उसका शरीर कहा जा सकता है। उसकी आत्मा है अर्थ। शब्द के अपने निश्चित अर्थ तो होते ही हैं, प्रसंग-भिन्नता से उसमें अर्थ-संकोच और अर्थ-विस्तार भी होता है। इसलिए सबसे पहले यह देखना जरूरी होता है कि नाटक के शब्दों के पीछे उसका कौन-सा अर्थ मौजूद है, एक है या अनेक हैं। सूक्ष्म रूप में नाटक के शब्दों के भीतर से निकाले गये इसी अर्थ को हम नाटक का कथ्य, नाटक का सत्य, स्वीकार करेंगे। जिस नाटक में, शब्द-प्रयोग से जितने अर्थों की सम्भावना होगी, दृश्यत्व के धरातल पर उस नाटक की उतनी ही व्याख्याएँ सम्भव होंगी। जिस नाटक के शब्दों से निकलने वाला अर्थ (आत्म-तत्त्व)

जितना सीमित होगा—दृश्य-व्याख्या के धरातल पर वह उतनी ही साधारण कृति होगी। समीक्षक का यह कर्त्तव्य होगा कि नाटक के शब्द-रूपी शरीर के धरातल से उसकी आत्मा में, उसके अर्थ-तत्त्व में गहरे प्रवेश करे और नाटक के अर्थों का कर्षण करे। नयी नाट्य-समीक्षा के अन्तर्गत काव्यत्व के परीक्षण के सन्दर्भ में यह तो काव्य के आत्म-पक्ष की परीक्षा की बात हुई। अब नाटक के स्थूल धरातल यानी 'शब्द' के धरातल पर उसकी परीक्षा होनी बाकी है। नाटक में श्रेष्ठता का क्रम, काव्यत्व की दृष्टि से वर्गीकरण और काव्यत्व एवं दृश्यत्व के समन्वय-पक्ष का उद्घाटन 'अर्थ' की की गयी व्याख्या की तरह 'शब्द' की की गयी इस नयी व्याख्या से सम्भव है। शब्द, जो काव्य का व्यक्त आधार है, अपने स्थूल आधार पर श्रव्य होता है और सूक्ष्म धरातल पर दृश्य। नाटक के काव्यत्व की व्याख्या का शाब्दिक एक धरातल तो यह हुआ, और दूसरा धरातल है शब्द-शक्ति। शब्द-शक्तियाँ तीन हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। क्रमशः इन्हें साधारण, माध्यम और उत्तम कोटि का काव्य कहा जाता है। नाट्य-समीक्षा के अन्तर्गत इसका भी विश्लेषण अपेक्षित है। यह देखा जाना चाहिए कि नाटक का काव्याधार यानी शब्दों (किसी शब्द-विशेष से ही यहाँ तात्पर्य नहीं है) में अभिधेयता है, लाक्षणिकता है या व्यंजना। और इसी आधार पर अर्थ के सन्दर्भ में फिर नाटक का कथ्य भी परीक्ष्य होना चाहिए कि नाटककार भोक्ताओं तक जिस सत्य-कथ्य को सम्प्रेषित करना चाहता है उसे वह अभिधा से, लक्षणा से या व्यंजना से सम्प्रेषित करता है। इस आधार पर अभिधापरक नाट्य-कृति को साधारण, लाक्षणिकतापरक नाट्य-कृति को मध्यम और व्यंजना-प्रधान नाटक को उत्तम ठहराया जा सकता है। व्यंजना यहाँ उत्तम इसलिए है कि व्यंग्य के साथ-साथ वह लक्षणा और अभिधा के अर्थ भी संप्रेषित करती है। इसी आधार पर कथ्य की परीक्षा फिर इस रूप में करणीय है कि कथ्य वहाँ नाटक में अभिधेय है, लाक्षणिक है या व्यंग्य। स्पष्टतः काव्यत्व की दृष्टि से नाटक के तीन वर्ग किये जा सकते हैं—

१. साधारण—जिसमें शब्द-प्रयोग, अर्थ-संगति और कथ्य-निरूपण शब्द के स्थूल धरातल पर अवस्थित हों अर्थात् अभिधा पर।

२. मध्यम—जिसमें शब्द-प्रयोग, अर्थ-संगति और कथ्य-निरूपण लाक्षणिक रूप से स्वल्प-सूक्ष्म शाब्दिक धरातल पर अवस्थित हों।

३. उत्तम—जिसमें शब्द-प्रयोग, अर्थ-संगति और कथ्य-निरूपण अतिसूक्ष्म धरातल अर्थात् व्यंजना से अभिव्यक्त होते हों, लेकिन जिसकी अर्थ-संगति और कथ्य-निरूपण अभिधा और लक्षणा की आनुषंगिकता भी रखते हों।

नयी नाट्य-समीक्षा के अन्तर्गत किये गए नाटक के इस वर्गीकरण के सन्दर्भ में एक बात हमेशा स्मरण रखनी होगी कि नाटक एक ऐसा काव्य है जिसकी दृश्य-सम्भावनाएँ अनिवार्यतः उसके काव्यत्व में सुरक्षित रहती हैं। काव्यत्व की दृष्टि से श्रेष्ठ नाटक होने की सम्भावना रखते हुए भी यदि कृति की दृश्य-सम्भावना क्षीण प्रतीत हो, अर्थात् नाटक का अर्थसत्य (कथ्य-सत्य) व्यंजना के धरातल पर दृश्य

आयामों के निर्माण में असफल साबित हो या किसी ऐसे नाटक के रंग-प्रयोग से तैयार की गयी दृश्याभिव्यक्ति में उन व्यंजनाओं की अभिव्यक्ति की सम्भावनाएँ न हों तो दूसरे धरातल पर अपने समस्त गुणों के बावजूद वह नाट्य कृति साधारण सिद्ध होगी। दृश्यत्व की व्यंजना के अभाव में वह कृति केवल श्रेष्ठ काव्य हो सकती है, श्रेष्ठ नाटक नहीं। इसके विपरीत एक सम्भावना यह हो सकती है कि काव्यत्व के धरातल पर साधारण कृति होकर भी कोई नाट्य-कृति दृश्यत्व की कुछ सम्भावनाएँ रखती प्रतीत हो। ऐसी स्थिति में वह कृति इसलिए श्रेष्ठ नहीं कही जायगी कि नाटक की श्रेष्ठता केवल दृश्यत्व की अमित सम्भावनाओं में ही नहीं, काव्यत्व की दृष्टि से भी श्रेष्ठ होने में है। इस विश्लेषण से यही निष्कर्ष लिया जा सकता है कि वही नाट्य कृति श्रेष्ठ समझी जाय जिसमें दृश्यत्व की अमित सम्भावनाएँ भी उतनी ही हों जितनी काव्यत्व की दृष्टि से उसकी असीम या अत्यधिक व्यंजनाएँ हों। काव्यत्व और दृश्यत्व के श्रेष्ठ अंशों के संयोग से ही नाट्य-कृति श्रेष्ठ कही जायगी। अनुपात-भेद से वही क्रमशः मध्यम अथवा साधारण कृति के रूप में स्वीकार की जायगी। श्रेष्ठ नाट्य कृति के दृश्यत्व में व्याख्याओं की अधिकतम सम्भावनाएँ रहती हैं और ये सम्भावनाएँ उसमें काव्यत्व की व्यंजना-शक्ति से प्राप्त होती हैं। यदि नाटककार अपनी नाट्यानुभूति को व्यंजक बनाकर दृश्यत्व की सम्भावनाओं से जोड़ेगा तो उसकी कृति में व्याख्या और व्यंजना की उभयस्तरीय (काव्यत्व एवं दृश्यत्व) अमित सम्भावनाएँ स्वतः उत्पन्न हो जायेंगी। श्रेष्ठ नाट्य के इस श्रेष्ठ संयोजन की टीका करेगा समीक्षक।

नाट्य-समीक्षा के जिन नये मानदण्डों की स्थापना के निमित्त नाट्य-दर्शन का जो यह प्रारूप मैंने यहाँ प्रस्तुत किया उसे तब तक पूरा नहीं समझा जा सकता जब तक काव्यत्व और दृश्यत्व के समन्वय के इस सिद्धान्त को अन्य नाट्य-रूपों पर घटाकर संगत सिद्ध न कर दिया जाय। अभी जितने प्रकार के नाट्य-रूप प्रचलित हैं उन्हें हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं :

१. काव्यत्व-प्रधान नाट्य-रूप—यथा काव्य-नाटक—गीतिनाट्य (अन्धा युग से अग्निलीक तक की परम्परा) और एकालाप।

२. दृश्यत्व-प्रधान नाट्य-रूप—नृत्य-नाट्य, संगीत-नाट्य, भाव-नाट्य, मूक-नाट्य, पुतली-नाट्य आदि।

३. दृश्य-काव्य-समन्वित नाट्य-रूप—सामान्य रूप से गद्य-नाटक जिनकी दृश्यत्व एवं काव्यत्व की दृष्टि से तीन कोटियों की चर्चा पूर्वकथित है।

इस विवेचन से वर्गीकरण का आधार स्पष्ट हो जाता है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वही नाट्य-रूप रखे गये हैं जिनमें दृश्यत्व तो है पर जिनकी दृश्याभिव्यक्ति में भी काव्य-तत्त्व की ही प्रधानता होती है। दूसरी ओर, काव्य-नाटक को पढ़कर दर्शक बढ़िया कविता पढ़ने का आस्वाद भी ले सकता है। जब वह उसी नाटक को मंचीय साक्ष्य से देखता है तो वहाँ भी उसका ध्यान रंगाभियोजन-दृश्याभिव्यक्ति और

अभिनेता-चरित्रों से अधिक काव्यत्वपूर्ण संवादों के श्रवण पर अधिक केन्द्रित रहता है। उसका मस्तिष्क संवाद की लय, मुद्रा, ध्वनिता, सांगीतिकता, अर्थ, बिम्ब आदि पर ही अधिक केन्द्रित रहता है और तदनुसार दृश्य की अपेक्षा वह वस्तु का मनसा साक्षात्कार ही करता चलता है। स्पष्टतः केवल आलेख में ही नहीं, दृश्यान्तर्गत भी दृश्यत्व की व्याख्याओं की अपेक्षा काव्यत्व का विश्लेषण प्रधान हो उठता है। कई काव्य-नाटक तो ऐसे भी हैं जिनके रंगाभियोजन की कोई सार्थकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि दृश्यत्व से वहाँ काव्यत्व सिद्ध नहीं होता, उल्टे काव्यत्व के आस्वाद में वहाँ दृश्य बाधक ही हो उठते हैं। दृश्य का वहाँ अपना कोई महत्त्व नहीं होता। ऐसे काव्य-नाटक मूलतः काव्य ही, बहुत तो उन्हें नाट्य कविता, कहा जा सकता है, केवल ऐसे नाटकों का जिनकी दृश्याभिव्यक्ति में काव्यत्व का कहीं स्पष्टीकरण या व्याख्या सम्भव हो। इस पर भी ऐसे काव्य-नाटक दृश्य काव्यान्तर्गत इसलिए स्वीकार्य हैं कि उन्हें दृश्य बनाकर भी प्रस्तुत किया जा सकता है, भले ही वहाँ दृश्यत्व सार्थक, महत्त्वपूर्ण और व्याख्यापरक न भी हो।

एकदम विपरीत स्थिति होती है दृश्यत्व-प्रधान नाट्य-रूपों में जहाँ दृश्यत्व प्रधान हो उठता है, काव्य गौण हो जाता है और कहीं-कहीं तो अनुपस्थित भी प्रतीत होता है। जहाँ काव्यत्व अनुपस्थित प्रतीत होता है, वस्तुतः वहाँ काव्यत्व अपने स्थूल अवयवों द्वारा व्यय नहीं किया गया होता है पर उसकी आत्मा (अर्थ) वहाँ भी सूक्ष्म धरातल पर मौजूद होती है। यही कारण है कि स्थूल अथवा भौतिक रूप में वहाँ काव्यत्व अनुपस्थित प्रतीत होता है। नृत्य-नाट्य में आलेख तैयार किया जाता है, यद्यपि वहाँ महत्त्वपूर्ण आलेख नहीं, नृत्य की सांगीतिक लय और मुद्राओं की भाषा होती है तथापि वहाँ आलेख के रूप में काव्य का स्थूल शरीर विद्यमान होता है। यही स्थिति संगीत-नाट्य के गीतों-पदों और पार्श्ववाचनों में स्वीकार की जा सकती है। मूकनाट्य में स्थिति कुछ भिन्न अवश्य होती है क्योंकि वहाँ काव्यत्व के भाषिक अवयव केवल मुद्राओं और क्रिया-व्यापारों में अभिव्यक्त होते हैं। इन नाट्य-रूपों में दृश्यत्व की दृष्टि से एक गम्भीर एकाग्रता होती है—दर्शक, मंच की सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधि पर अपना ध्यान केन्द्रित किये रहता है। इसलिए इस प्रकार में दृश्यतत्त्व की प्रधानता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। इन सभी नाट्य-रूपों की समीक्षा कैसे की जाय, वस्तुतः यह पृथक्-पृथक् परिच्छेदों में विश्लेषण का विषय होता है जहाँ हर नाट्य-रूप के काव्यत्व, दृश्यत्व और नाट्यानुभूति के पक्षों का विश्लेषण कर उन नाट्य-रूपों की समीक्षा का प्रारूप तय किया जाना चाहिए। इस पर भी यह तो तय-सा है कि उन सभी विश्लेषणों में आधारभूत सिद्धान्त वही होंगे जिनकी हम अब तक चर्चा कर आये हैं।

परिशिष्ट-१

सहयोगी लेखक

१. डा० गोविन्द चातक,
१०, वाणी विहार, उत्तम नगर
नई दिल्ली-११००५९

२. विष्णुकान्त शास्त्री,
२८०, चितरंजन एवन्यू
कलकत्ता (पं० बं०)-७००००६

३. डा० (श्रीमती) गिरिजा सिंह,
४, महर्षि दयानन्द मार्ग,
इलाहाबाद

४. श्री बैजनाथ राय,
एफ-१/५४, सेंट्रल गवर्नमेंट क्वार्टर्स
नारिकेल डाँगा, कलकत्ता-७०००५४

५. डा० (श्रीमती) भूपेन्द्र कलसी
छात्रावास अधीक्षिका,
राँची महिला महाविद्यालय छात्रावास सं० २,
राँची (बिहार)

६. कु० उर्मिला राय,
द्वारा श्री बैजनाथ राय,
कलकत्ता-५४

७. श्रीपति कुमार गुप्त,
हिन्दी विभाग, एच० आर० कालेज,
अमनौर, सारण, (बिहार)

८. श्री मदनमोहन माथुर,
प्रवक्ता अंग्रेजी विभाग,

महेश हास्टल के निकट,
चौपासनी रोड, जोधपुर (राजस्थान)
पिन-३४२००३

९. डा० मान्धाता ओझा,
१३ ए, युनिवर्सिटी रोड
हिन्दू कालेज, स्टाफ, क्वार्टर्स
दिल्ली-११०००७

१०. नरनारायण राय,
गढ़ बनैली, पूर्णियाँ (बिहार)
पिन-८५४३२५

११. जगदीश शर्मा,
४३७/३ डी० रोड, सरदार पुरा
जोधपुर (राजस्थान)-३४२००३

१२. डा० (श्रीमती) गिरीश रस्तोगी,
२३ ग हीरापुर कालोनी
गोरखपुर (उ० प्र०)

१३. किरनचन्द्र शर्मा,
डी० २५१, भजनपुरा
दिल्ली-१११५५

परिशिष्ट-२

सानुमति, साभार, संकलन-सन्दर्भ

सामग्री	संकलन सन्दर्भ
१. हमारी नाट्य-समीक्षा और रंगमंच —डा० गोविन्द चातक	'रंगमंच कला और दृष्टि' तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, १६७६
२. हिन्दी नाटक के दर्शक और समीक्षक : —विष्णुकान्त शास्त्री	'दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच' सं० विष्णुकान्त शास्त्री, प्रकाशक अनामिका-कलकत्ता-२०
३. नाट्य समालोचन, प्रकृति और प्रतिमान —डा० मान्धाता ओझा	'हिन्दी नाट्य समालोचन' डा० मान्धाता ओझा, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली-६, १६७६
४. नाट्यालोचन के नये प्रतिमान : —डा० भूपेन्द्र कलसी	कल्पना मासिक, जून-७४, अंक ४-५-४६, सुलतान बाजार, हैदराबाद।
५. आधुनिक नाट्यालोचन : —नरनारायण राय	आलोचना त्रैमासिक, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि० ८ नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-२ नवांक ३७, अप्रैल-जून १६७६।
६. नाट्य समीक्षा : नये क्षितिज की खोज —नरनारायण राय	आलोचना त्रैमासिक राजकमल प्रकाशन प्रा० लि० ८ नेताजी, सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-२ नवांक-४२, [illegible]-सित० १६७७।